रहस्यवाद

राममूर्ति त्रिपाठी

रहस्यवाद

राममूर्ति त्रिपाठी

इस पुस्तक में रहस्यवाद जैसे गूढ़, गहन और अस्पष्ट विषय पर साहित्य और दर्शन के अध्येता डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी ने स्पष्ट और सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत किया है । पुस्तक पाँच अध्यायों में विभक्त है । प्रथम अध्याय—स्वरूप तथा प्रकार; द्वितीय अध्याय—अनुभूत रहस्य तत्त्व का स्वरूप; तृतीय अध्याय—रहस्यानुभूति की प्रक्रिया; चतुर्थ अध्याय—साधनात्मक रहस्यवाद; पंचम अध्याय—रहस्य की अभिव्यक्ति ।

रहस्यवाद के स्वरूप पर विचार करते हुए लेखक ने स्पष्ट किया है कि रहस्यवाद 'मिस्टीसिज़्म' का रूपान्तर नहीं है बल्कि स्वतत्र शब्द है और स्वतंत्र रूप में यह शब्द भारतीय प्रयोगों के आधार पर सुनिश्चित अर्थ से सम्पन्न है । 'अनुभूत रहस्य तत्त्व का स्वरूप' बतलाते हुए लेखक ने उपनिषद, तन्त्र एवं नाथसिद्ध विचार परम्परा के आधार पर रहस्यानुभूति की व्याख्या की है।

पुस्तक का सबसे महत्त्वपूर्ण अध्याय 'रहस्यानुभूति की प्रक्रिया' है जिसमें लेखक ने कबीर, जायसी आदि प्राचीन सन्त कवियों एवं प्रसाद, महादेवी आदि आधुनिक छायावादी कवियों के काव्य में प्राप्त रहस्यानुभूति के विविध रूपों का विवेचन किया है। रहस्यवादी कवियों की रूपगत और शिल्पगत विशेषताओं के विवेचन की दृष्टि से इस पुस्तक का अन्तिम अध्याय 'रहस्य की अभिव्यक्ति' विशेष रूप से द्रष्टव्य है ।

रहस्यवाद

रहस्यवाद

रामभूर्ति त्रिपाठी



राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना

मूल्य : रु. 35.00

प्रथम संस्करण : 1966
द्वितीय संशोधित-परिवर्धित संस्करण : 1982

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा. लि.,
8, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली-110002

मुद्रक : शान प्रिन्टर्स, रोहताश नगर, शाहदरा दिल्ली-32

आवरण : चाँद चौधरी

RAHASYAVAD
Criticism by Dr. Ram Murti Tripathi

महामहोपाध्याय पण्डित
गोपीनाथ कविराज
को,
जिनसे तान्त्रिक-वाङ्मय को समझने
की दृष्टि मिली

क्रम

पातनिका

"रहस्यवाद" शब्द Mysticism का रूपान्तर है, अतः इस मूल शब्द के आशय को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होता है। मूल शब्द का ठीक-ठीक रूपान्तर है—रहस्यदर्शिता-रहस्यदर्शन-रहस्यानुभूति। "अनुभूति" शब्द "वाद" से बड़ा है और रहस्यदर्शी को "वाद" नहीं, "अनुभूति" प्रिय है। वैसे भारतीय परम्परा में "वाद" तत्वबोध के इच्छुकों का विचार-विनिमय कहा जाता है, जो "जल्प" और "वितण्डा" से भिन्न होता है। कुछ भी हो, "वाद" बोध पक्ष से, चिन्तन पक्ष से जुड़ा हुआ एक बौद्धिक और तात्विक निष्कर्ष है। "अनुभूति" उसका अतिक्रमण करती है। सच पूछा जाये तो "रहस्यानुभूति" रहस्य की अनुभूति या रहस्यमयी अनुभूति है। परमार्थतः "अनुभूति" स्वयं "रहस्य" है। उपनिषद् के ऋषियों का अनुभव है—"यत् साक्षाद् अपरोक्षाद् ब्रह्म"[1]—ब्रह्म या वृहत् तत्त्व साक्षात् अपरोक्ष है—अपरोक्षानुभूति है। अपरोक्ष अनुभूति अन्य सापेक्ष होने के कारण असाक्षात् भी होती है—जैसे आत्म-भिन्न वस्तुओं का अनुभव अन्य अर्थात् इन्द्रिय या मन से होता है—पर वृहत् तत्त्व, ब्रह्म या आत्मा की अनुभूति स्वतः होती है—वह स्वयं प्रकाश है—अपने प्रकाश के लिए अपने से भिन्न की अपेक्षा नहीं करता। वस्तुतः अपरोक्ष (वृहत् तत्त्वः) और अनुभूति तात्विक स्तर पर एक ही हैं- वृहत् तत्त्व अनुभूति ही है और इसीलिए वह अपने होने में स्वयं प्रमाण है। वह मन और बुद्धि का विषय नहीं है—वह अपना विषय स्त्रयं है—या कि वह विषय है ही नहीं—विषयी-अनुभूति ही है। रहस्यदर्शियों के अनुभव में आने-वाला अन्य निरपेक्ष स्वयं प्रकाश आत्मतत्त्व बुद्धि के परे होने से मुख्यतः "रहस्य" है—"गुह्य" है। "रहस्य" शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य एक अर्थ है—रहसि भवम्—रहस्यम्—अर्थात् एकान्त में सम्पन्न होनेवाला—प्रायवेसी। निष्कर्ष यह कि "रहस्य" शब्द का मुख्य अर्थ में बोधातीत किन्तु अनुभव साक्षिक वृहद् आत्मतत्त्व के लिए और गौण अर्थ में एकान्तसाध्य कर्म या भाव के लिए प्रयोग होता है। दूसरे अर्थ में रहस्य बोधगम्य होकर भी रहस्य रखा जाता है। रहस्यवाद शब्द इन दोनों ही अर्थों को आत्मसात् करता है।

1. "वेदान्त परिभाषा" से उद्धृत, पृष्ठ-36
मणिप्रभा, शिखामणि टीका सहित।

"रहस्यवाद" पर जब हम हिन्दी साहित्य के सन्दर्भ में विचार करते हैं, तब अनेक प्रकार के मतभेद सामने आते हैं। इन मतभेदों के सन्दर्भ में यही नहीं स्पष्ट होता कि रहस्यवाद भारतीय प्रकृति का है या नहीं। इसीलिए रचनाओं को रहस्यवादी कहने में भी एक हिचक पैदा होती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मन्तव्य है कि भारतीय अध्यात्म और काव्य—दोनों ही क्षेत्रों में रहस्यवाद नहीं है। वस्तुतः शुक्लजी दर्शन के मर्मज्ञ होते हुए भी काव्य को "अध्यात्म" से मुक्त देखना चाहते हैं और बुद्धिवादी बन जाते हैं। बुद्धिवादी चिन्तक होने के कारण वे प्राकृत अन्तःकरण के ऊपर किसी अति प्राकृत (super natural) शक्ति को स्वीकार नहीं करते। उनकी धारणा है कि भारतीय अध्यात्म में—विशेषकर भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग में—सामान्यतः रहस्यवाद का कोई स्थान नहीं है। भक्तिमार्ग प्राकृत अन्तःकरण की भावशक्ति को माध्यम बनाता है और चरमसत्ता के "ज्ञान" या "व्यक्त" पक्ष से जुड़ता है। इस ज्ञात या व्यक्त पक्ष के लक्षणों का निर्देश आचार्यगण अन्तःकरण की दूसरी प्राकृत शक्ति बुद्धि के माध्यम से करते हैं। भारत में अद्वैतवाद चिन्तन की ही परिणति है। शुक्लजी यह भी मानते हैं कि तत्त्व-चिन्तन से द्वैतवाद या अद्वैतवाद तक ही पहुँचा जा सकता है, ब्रह्म के उस अव्यक्त स्वरूप के "साक्षात्कार" तक नहीं, जहाँ अन्तःकरण की रहस्यात्मक पद्धति से योगमार्ग जाता है। अर्थात् योगमार्ग साधनात्मक रहस्यमार्ग तो यहाँ है, पर "ज्ञानमार्ग" या "भक्तिमार्ग" नहीं। भक्ति के क्षेत्र में रहस्य का समावेश उस धारा में होता है जहाँ अध्यातम मे बुद्धि या चिन्तन की दखलन्दाजी निषिद्ध है। फलतः इस धारा में "भाव" से ही "ज्ञान" का काम चलाना पड़ता है—जो अस्वाभाविक और रहस्यमय है। यहाँ चिन्तन से प्राप्त होनेवाले "अद्वैत" की तर्क-दर-तर्क नहीं, प्रत्युत भावातिरेक की स्थिति में सहसा उपलब्धि होती है। पैगम्बर या मुरशिद भी इसी रहस्यमय तरीके से उन लक्षणों को प्राप्त करते हैं, जिन्हें भारतीय आचार्य चिन्तन के स्पष्ट पथ से प्राप्त करते हैं। इसीलिए शुक्लजी कहते हैं कि जब चिन्तन का क्षेत्र अद्वैत भाव के क्षेत्र में संचरित होता है—तब उच्चकोटि के भावात्मक रहस्यवाद का जन्म होता है। सामान्यतः भारतीय अध्यातम में "ज्ञान" का काम "ज्ञान" से ही लिया जाता है और भाव का प्रसार इसी ज्ञान के भीतर होता है—अतः यहाँ रहस्यवाद की गुंजाइश ही नहीं है। शुक्लजी को गीता के "भक्त्या मामाभिजानाति" का बोध है। वे इसकी अन्यथा व्याख्या करते हैं और कहते हैं कि इसका तात्पर्य "भक्ति" से मुझे "जानना" है—यह है ही नहीं। इसका तात्पर्य केवल इतना है कि भक्ति से "जानने" में सौन्दर्य आ जाता है। ज्ञान का काम ज्ञान ही करता है—भक्ति उसमें सुन्दरता ला देती है।

शुक्लजी ने कहा, भारत में सामान्यतः भावात्मक-रहस्यवाद या रहस्यवाद नहीं है। "सामान्यतः" कहने का आशय स्पष्ट करते हुए उन्होंने यह भी कहा कि जब वैष्णव भक्तिधारा में सूफियों के सम्पर्क से "माधुर्य" भाव का समुन्मेष हुआ, तब उसके साथ रहस्यमयता भी अनिवार्य और स्वाभाविक रूप से संक्रान्त

हुई। "दास्यादि" अन्य भावों में वह "प्राइवेसी" नहीं है, एकान्तिकता नहीं है—जो "माधुर्य" में है। इसमें नाता जग या लोक से हटकर एक से ही हो जाता है।

शुक्लजी इस बात का भी उत्तर देते हैं कि ये भारतीय परम्परा के सगुण-भक्त निर्गुण या अव्यक्त के रूप में राम की चर्चा क्यों करते हैं ? वे कहते हैं कि कभी-कभी दास्यादि भाव की भक्ति में भी ब्रह्म के उभयात्मक—सगुण-निर्गण—रूप का उल्लेख होता है, वहाँ अव्यक्त पक्ष का उल्लेख "भाव" के उत्कर्ष के लिए ही होता है—वहाँ आराध्य में इयत्ता के परिहार से जो रहस्यमयता ध्वनित होती है—वह केवल भाव को तीव्र करने के लिए। निष्कर्ष यह कि शुक्लजी सामान्यतः भारतीय भक्ति साधना में रहस्यवाद मुख्य अर्थ में मानते ही नहीं हैं—यदि गौण अर्थ (प्राइवेसी) में लक्षित होता भी है तो वह सूफियों के सम्पर्क से आरोपित है—स्वाभाविक नहीं। अभिप्रायः यह कि हिन्दी की मध्यकालीन सगुणधारा में तो रहस्यवाद है ही नहीं, निर्गुणधारा में लक्षित होनेवाला रहस्य-वाद विदेशी प्रवृत्ति है। अज्ञात के प्रति भावसंचार अस्वाभाविक ही है।

जहाँ एक ओर एक ख्यातनामा समीक्षक की यह धारणा है, वहाँ लब्ध-प्रतिष्ठ सर्जक और चिन्तक जयशंकर प्रसाद की उनसे सर्वथा भिन्न। जहाँ शुक्लजी काव्य का अध्यात्म और रहस्य से कोई सम्बन्ध स्वीकार नहीं करते और उसे मनोमय कोश की वस्तु मानते हैं, वहाँ प्रसादजी की धारणा है कि काव्य का मूल उत्स रहस्यमय है। उनकी दृष्टि में काव्य आत्मा की संकलपात्मक अनुभूति है और संकलपात्मक अनुभूति रहस्यवाद की मुख्य धारा है। काव्य में विकल्प और विश्लेषण के माध्यम से नहीं, प्रत्युत सहसा और समग्र चारुता में सत्य गृहीत होता है।

इस बात पर पदार्थवादी, भाववादी और आत्मवादी—तीनों एकमत हैं कि कविता एक विशेष मूड या मनःस्थिति की उपज है—जो कब और कैसे बन जाती है—कहना कठिन है। इस स्वतः समुच्छ्वसित मनःस्थिति या मूड में स्रष्टा की सजगता की दखलंदाजी कलाकार को अभिमत नहीं है। परम्परा भी इस सत्य की साक्षी है। आनन्दवर्धन ने महाकवि का महाकवित्व क्या है—इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"प्राक्तनपुण्यपरिपाकवशेनमेषां सुकविनां प्रवृत्तिः तेषां परोप-रचितार्थपरिग्रहनिः स्पृहाणां स्वव्यापारः कर्तुं न मुज्यते। भगवती स्वय-मेवाभिमतमर्थमवतारयति। एतदेव महाकवित्वं महाकवीनाम्।" अर्थात् जिन सुकविजनों की अर्जित पुण्यपरिपाकवश काव्य मे प्रवृत्ति होती है, उन्हें चाहिए कि वे दूसरों द्वारा रची हुई बासी सामग्री न लें और स्वयं भी व्यापारशील न हों। भगवती सरस्वती स्वयं ही अभिमत अर्थ घटित करने लगती है। यही है महा-कवि का महाकवित्व। इस उद्धरण से एक तो यह स्पष्ट होता है कि कविता एक पवित्र परिणति है—कृति है। कविवर घनानन्द ने इस पवित्रता को ही लक्षित करते हुए कहा—

उर-भौन मैं मौन को घूंघट कै दुरि बैठि बिराजति बात-बनी।
मृदु मंजु पदारथ भूषन सों सु लसै हुलसै रस-रूप-मनी।
रसना-अली कान-गली मधिव्है पधरावति लै चित सेज ठनी।
घनआनन्द बूझनि अंक बसै बिलसै रिझवार सुजान धनी।

इस कविता में स्पष्ट कहा है कि कविता देवी को (रचयिता की) रसना रूपी सखी सहृदय की चित्तशय्या पर "पधरावती" है। इस क्रिया का प्रयोग देव-प्रतिमा को स्थानान्तरित करने के लिए—एक जगह से उठाकर दूसरी जगह रखने के लिए किया जाता है। इससे कविता के प्रति उनकी क्या निष्ठा है—स्पष्ट है। ऐसी कविता के करने में प्राक्तन पुण्य का परिपाक आवश्यक है। आपाततः एक अन्तर्विरोध लगता है कि काव्यक्रिया में प्रवृत्त होकर स्वकीय व्यापार से विरत हो जाय—और परम्परागत अर्थ का अपहरण भी न करे। प्रश्न है कि करे क्या? भगवती सरस्वती किस प्रकार अभिमत अर्थ का उद्भावन करती है?

वस्तुतः चाहे व्यापार जगत हो, काव्य की रचना हो या अध्यात्म का क्षेत्र हो—सर्वत्र "विसर्जन" ही विशिष्ट सर्जन का मार्ग है। विसर्जन अर्थात् आत्मसमर्पण—समष्टि सत्ता में व्यष्टि सत्ता का विलयन। व्यवहार में व्यक्ति अपनी सत्ता का विस्तार परिवार, समाज, राष्ट्र तथा विश्व में विलीन करके ही कर सकता है। इसी प्रकार जब किसी अज्ञात कारण से एक विशिष्ट या असाधारण मनोदशा बन जाय, तब सर्जक को चाहिए कि वह अपनी सीमित चेतना को स्थगित या विसर्जित रखे। असीम शक्ति सीमित शक्ति को पचाकर ही सक्रिय होती है। इस शक्ति के जागरण से न जाने क्या-क्या सूझने लगता है और कविता अपरिमेय सम्भावनाओं की सृष्टि बन जाती है। निष्कर्ष यह कि कविता इस अज्ञात प्रक्रिया से होती है—ज्ञात स्तर से नहीं की जाती। इसीलिए प्रसादजी काव्य का सम्बन्ध रहस्यमय मानते हैं—परम्परा हस्तावलम्ब देती है।

दूसरी बात यह कि प्रसादजी का अतिप्राकृत प्रातिभ शक्ति में विश्वास है, जबकि शुक्लजी उसे अस्वीकार करते हैं। ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि प्रसादजी प्राकृत अन्तःकरण के ऊपर अतिप्राकृत शक्ति मानते हैं और उसे काव्य का मूल उत्स निरूपित करते हैं। यही वह शक्ति है जिससे सत्य का सहसा साक्षात्कार होता है। इनका अभिप्राय यह है कि इस अतिप्राकृत स्तर पर वैसा क्षेत्र-भेद नहीं है, जैसा प्राकृत अन्तःकरण की भावशक्ति और ज्ञानशक्ति में भेद है—एक का काम दूसरी नहीं कर सकती। काव्य या अध्यात्म के क्षेत्र में विसर्जन और तदाधारित रहस्यमयता का प्रवेश श्रीमती महादेवी वर्मा भी मानती हैं। कहती हैं—

सुनायी किसने? पल में तान,
कान में मधुमय मोहक तान,
तरी को ले जाओ मझधार
डूबकर ही जाओगे पार;

विसर्जन ही है कर्णधार।
वही पहुँचा देगा उस पार।

मंजिल तक पहुँचने के लिए जिसे तुम "तरी" समझते हो, उसे "प्रवाह" में विसर्जित कर दो—प्रवाह ही मंजिल तक पहुँचा देगा। स्रोत में, धार में पड़ जाओ—गन्तव्य स्वयं गोद में ले लेगा। निष्कर्ष यह कि इस प्रक्रिया का स्वीकार काव्य और अध्यात्म—उभयत्र निर्बाध रहस्यमयता को प्रवेश देता है।

तीसरी बात यह कि प्रसादजी रहस्यवाद को भारतीय प्रकृति का मानते हैं और तदर्थ अपरोक्षानुभूति, समरसता तथा अहम् से इदम् के समन्वय की साधना आवश्यक समझते हैं। वे मानते हैं कि यह शक्ति का रहस्यवाद भारतीय परम्परा में निर्धारित समय से चलता चला आ रहा है। द्वैतवादी प्रवाह में कहीं यह प्रच्छन्न रहस्य सम्प्रदायविच्छिन्न न हो जाय—अतः उसका पुनः प्राकट्य हुआ। उनके अनुसार भारत में दो धाराएँ प्रचलित थीं—विवेकवादी और आनन्दवादी। पहले का प्रवर्तक वरुण और दूसरे का इन्द्र। विवेकवाद में दुःखवाद का अस्तित्व था, आनन्दवाद में नहीं। पहले में "पर" का और दूसरे में "स्व" का प्राधान्य था। यह "स्व" समरस पर्यवसायी था। यह "समरस" लीला के लिए अपनी "शक्ति" को अपने से पृथक् कर अणुभावापन्न होता है—"बोध" को "स्वातन्त्र्य" से और "स्वातन्त्र्य" को "बोध" से पृथक् करता है। बोध ही प्रकाश है और स्वातन्त्र्य ही विमर्श। स्वरूपपरामर्श करती हुई विमर्श-शक्ति ही आनन्द है–चाहे व्यवहार हो, काव्य हो या अध्यात्म। आगमों में इसीलिए कहा गया कि आनन्दोच्छलित शक्ति ही अपने से अपनी सृष्टि करती है, विश्वात्मना रूपान्तरित होती है। शक्ति ही आनन्द का स्रोत है—यह द्वैतविरोधी अद्वैत को नहीं, द्वैतग्राही अद्वैत का पक्षधर है। इसीलिए शांकर धारा से भिन्न है। यह शक्ति-धारा विवेकवादियों के दुःखवाद से असहमत है। चिन्तन के इस आलोक में प्रसादजी की कुछ विलक्षण मान्यताएँ हैं। वे मानते हैं कि सगुणवादी रामधारा तो स्पष्ट ही विवेकवादी और दुःखवादी है। कृष्णाश्रयी काव्यधारा के सम्बन्ध में उनका खयाल है कि द्वैतमूलक उपासना के बुद्धिवादी प्रवर्तक भागवतों ने गोपियों में जिस विरह की स्थापना की, वह परकीय प्रेम के कारण दुःख के समीप अधिक हो सका और उसका उल्लेख भागवत में विरल नहीं है। प्रसादजी बौद्ध सिद्धों को हिन्दी का आदि रहस्यवादी कवि मानते हैं और मानते हैं कि ये आनन्दवादी धारा के सहजोपासक थे। साधना और कवित्व—दोनों ही दृष्टियों से कबीर आनन्दवादी सिद्धों की परम्परा में आते हैं। सगुण राम विशुद्ध विवेकवादी धारा, सगुण कृष्ण विवेकवाद-आनन्दवाद की मिश्र धारा और विवेकवादी धारा का अवलम्ब लेकर भी कबीर विशुद्ध आनन्दवादी सिद्धों की धारा के अधिक समीप थे। उनकी दृष्टि में रहस्यवाद के इस प्रभाव से तुलसी भी आक्रान्त थे, अन्यथा "अस मानस मानस चख चाही" न कहते। रहा सूफी मत—सो उसके सम्बन्ध में प्रसादजी का विचार है कि यह वह विचारधारा है जो अरब और सिन्ध का परस्पर सम्पर्क होने के बाद उत्पन्न हुई।

इस प्रकार जहाँ शुक्लजी भारतीय प्रकृति में रहस्यवाद नहीं मानते, वहाँ प्रसादजी उसका अस्तित्व अनिवार्य रूप से स्वीकार करते हैं और उसे आगम-सम्मत शक्तिवाद से जोड़ते हैं। उनकी दृष्टि में हिन्दी का आदि रहस्यवाद सिद्धों में है और वहाँ आनन्द का जो समुच्छलित स्तर है—मध्यकाल की भक्तिधारा की चारों शाखाओं में वह उस स्तर पर अनुपलब्ध है। प्रसादजी निर्गुणधारा के रहस्यवाद को न तो विदेशी मानते हैं और न ही सगुणधारा में उसके प्रभाव का अस्वीकार। हाँ, आनन्दवाद का वह समुच्छल और समुज्ज्वल रूप नहीं— जो सिद्धों में है।

जहाँ तक मेरा विचार है—मेरी धारणा का सम्बन्ध है, मैं मानता हूँ कि भागवत धारा ने "भक्ति" को पंचम पुरुषार्थ के रूप में जब "साध्य" घोषित किया, तब वह अन्तःकरण ही नहीं, माया और महामाया की भी वृत्ति नहीं है, वह आगम प्रतिपाद्य "समरस" तत्त्व की "शक्ति" का ही नामान्तर है और तब "भक्त्या मामाभिजानाति"—शब्दशः सत्य है। उसकी शुक्लसम्मत अन्यथा व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। रसमय शक्तिमान अपनी स्वरूपभूता अन्तरंगा निजाशक्ति से ही स्वरूप परामर्श करता है—और यह स्वरूप-परामर्श ही आनन्द है। आगम की धारणा है कि जब तक अविद्यामूलक अहंकार तद्राधृत कर्तृत्वबोध है तब तक "कर्म" ही होता है। कर्तृत्वबोध सापेक्ष समस्त क्रिया "कर्म" है, "भाव" नहीं। "कर्म" किया जाता है, "भाव" हो जाता है— होता है। पहले में कर्ता की अपेक्षा है और दूसरी में अनपेक्षा। भाव ही पुष्ट होकर महाभाव होता है और वही ह्लादिनीवृत्ति है— भक्ति है—शक्ति है। इस प्रकार जो भक्ति साहित्य है—वह शक्ति साहित्य है और इसका स्रोत शक्ति वाङ्मनोगोचर नहीं है—उससे परे है। शुक्ल-सम्मत प्राकृत अन्तःकरण की वृत्ति भक्तिधारा के साहित्य का उत्स नहीं है— है भी तो उस अवाङ्मनोगोचर भक्तिरूपा शक्ति के व्यंजक रूप में उपचारतः। अतः उस उत्स से प्रस्फुटित साहित्य रहस्यमयी अनुभूति का ही समुच्छलन कहा जायेगा। फलतः यह सब रहस्यवाद की परिधि में आयेगा।

(क) रामधारा के गोस्वामी तुलसीदासजी स्पष्ट कहते हैं—

रघुपति भगति **करत** कठिनाई।
कहत सुगम, करनी अपार, जानै सोइ जेहि पै **बनि** आई॥

"भक्ति" शक्ति की अभिव्यक्ति है—उसका सम्बन्ध करने से नहीं, स्वभाव से है। स्वभाव में ही बीज निक्षिप्त होता है तब तो "बन" गयी, "हो" गयी, अन्यथा प्रयत्न से अर्जित नहीं की जा सकती। इसीलिए भक्ति को उन्होंने स्वतन्त्र माना है और ज्ञान-विज्ञान को उसके अधीन। शुक्लजी काव्यरस और भक्तिरस की एक ही प्रक्रिया मानते हैं और कहते हैं कि शब्द से ज्ञात अर्थ का कल्पना से बिम्बन होता है और बिम्बात्मक अर्थ भाव को स्पन्दित कर आस्वादगोचर करा देता है। गोस्वामीजी कहते हैं—"अस मानस मानस चख चाही"—जिससे "रसविशेष" का आस्वाद सम्भव है। अविरल प्रेम भगति में मग्न "रसमय राम"

का साक्षात्कार कल्पना से नहीं, समाधि से करता है और घट के भीतर करता है—हृदयव्योम में। क्या यह भक्ति की वही स्वाभाविक क्रिया है, जिसकी चर्चा शुक्लजी करते हैं ? क्या यह अन्तःकरण की प्राकृत शक्ति से सम्भव है ? राम जनकपुरी तथा वनपथ पर अनूढा और परोढा नारियों के जब दृष्टि-भाजन बनते हैं और मुखारविन्द के सौन्दर्य में मग्न करते हैं—तब वहाँ कौन-सा भाव माना जाय ? दास्य ? नहीं, माधुर्य ही सम्भव है, दास तो चरणारविन्द का उपासक होता है। इस प्रसंग में यह कहना कि "विलोकहु री सखि ! मोहिं सी ह्वै" कोई अर्थ नहीं रखता ? राम का रसमय रूप तुलसी की आँख से ही देखा जा सकता है—यह आँख कोई और ही आँख है, खम्भे को फाड़कर प्रकट होनेवाले नरसिह को देखनेवाली आँख नहीं है। इस धारा की रसिक शाखा की रहस्यमयता तो प्रश्नातीत है ही। काव्यरस या प्राकृतरस से पार्थक्य बताते हुए गोस्वामीजी ने कहा है कि भक्तिरस रसविशेष है—जहाँ विषयसम्पर्कजन्य कोई कड़वाहट नहीं है, जबकि काव्यरस में विषय सम्पर्क है। कहा गया है—

"बिनु हरि भजन इंदारुन के फल तजत नहीं करुआई।"

(ख) कृष्णाश्रयी धारा के सूरदास ने अपने भक्तिरस के विषय में भी स्पष्ट घोषणा की है और सामान्य काव्यास्वाद से उसका दर्जा बढ़ाकर बताया है, साथ ही अवाङ्मनोगोचर होने से रहस्यमय भी।

"परम स्वाद सबहीं जु निरन्तर अमित तोष उपजावै।
मन बानी को परम अगोचर जो जानै सो पावै॥"

स्पष्ट ही काव्यरस यदि आस्वाद है—अनुभूत (वासना) की अनुभूति है, तो भक्तिरस "परमास्वाद" है। पहला वाङ्मनोगोचर है, दूसरा अवाङ्मनोगोचर। अतः इसकी रहस्यमयता और काव्यरस से भिन्नता स्पष्ट है। शुक्लजी का यह कहना भी साम्प्रदायिक दृष्टि से असंगत है कि इनमें प्रतिफलित "माधुर्यभाव" सामी या सूफी मत का सम्पर्कज प्रभाव है, यहाँ की सगुणधारा में माधुर्यभाव स्वाभाविक नहीं आरोपित है।

प्रसंग है इसलिए यह भी बता दूँ कि "भाव" शब्द का प्रयोग तीन स्तरों पर होता है—व्यवहार, काव्य तथा अध्यात्म। तीनों स्तरों पर प्रयुक्त होनेवाले "भाव" शब्द का प्रवृत्ति-निमित्त भिन्न है। व्यवहार स्तर पर प्रयुक्त "भाव" का मनोविज्ञानसम्मत स्वरूप है—प्रत्ययबोध, अनुभूति और वेगयुक्त प्रवृत्ति—तीनों का गूढ़ संश्लेष। काव्यास्वाद के सन्दर्भ में भरत-सम्मत "भावन" या "वासन" भाव का लक्षण है। वहाँ वह "भाव" इसलिए कहा जाता है कि सहृदय के हृदय को भावित या रचयिता के भाव से वासित करता है। अध्यात्म के स्तर पर "भाव" वह प्रकृतिनिक्षिप्त बीजभाव है जिसका उल्लेख अविधातिवृत्ति के बाद होता है जो विकसित होकर रसरूप में परिणत होता है।

कृष्णाश्रयी धारा में लीला रूप से तीन ही रस सम्भव हैं—सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य। कारण, लीला में तीन ही वर्ग हैं—सखा, गोपी तथा नन्दादि

गुरुजन। एक ही सत्ता इन रूपों में विभक्त होकर विभिन्न भावभूमियों की रसमयी लीला करती है—भक्त इन्हीं से तद्भावापन्न होकर परमास्वाद लेते हैं। सूर नन्दभावापन्न होकर भक्ति करते थे—यह कहीं से भी प्रमाणित नहीं होता। उन्मद श्रृंगार का वर्णन कर लेते हैं, अतः "असंकोच" मूलक "सख्य" भाव की उपासना है—यह तर्क भी कमजोर है। कारण, फिर तो उन्मद श्रृंगार-वर्णन के कारण कालिदास में भी शिव के प्रति सख्य भाव मान लिया जाय ? वल्लभाचार्य का सिद्धान्त है कि कृष्णरस का पान "गोपी-भाव" के आन्तर चक्षु उन्मीलित होने पर ही सम्भव है। प्रसिद्धि भी है कि सूर की अन्तिम चेतना राधाभावापन्न हो गयी थी। ये सब बातें माधुर्य भाव की उपासना सिद्ध करती हैं—इसे सूफी सम्पर्क का परिणाम मानना अयुक्तिसंगत है।

कृष्णाश्रयी धारा में अप्राकृत स्तर पर होनेवाली रसानुभूति की गहरी विवेचना उपलब्ध होती है। प्राकृत स्तर के आस्वाद से उसका अन्तर तीन बिन्दुओं पर विचारा जा सकता है— मूलभाव (स्थायी), प्रक्रिया तथा परिणति। भक्ति-शास्त्र तथा काव्यशास्त्र—उभयत्र बताया गया है कि स्थायी भाव ही पुष्ट होकर रस बनता है। काव्यशास्त्र में आस्वाद की व्याख्या आत्मवाद और तन्निरपेक्ष—उभयविध भूमियों पर हुई है। पहली भूमि पर कभी स्थायी को और कभी चित् को प्रमुखता दी गयी है। आत्मवाद निरपेक्ष भूमि पर "वासना" ही अ-व्यक्तिगत रूप में अनुभूतिगोचर होकर आस्वाद्य मानी गयी है। पर आत्मवादियों की भाँति अनिवार्यतः आनन्दमय नहीं। जहाँ तक भक्तिशास्त्र का सम्बन्ध है—वह निर्विवाद आत्मभूमि ही है। यहाँ "स्थायी" और "रस" के सम्बन्ध में अनेकविध मत मिलते हैं—(क) सम्प्रदाय मानता है कि बीजभाव परमात्मा सृष्टिकाल में ही जीव में विस्फुलिंग के रूप में निषिक्त कर देता है। जिसमें यह भाव पहले से ही विद्यमान है—उसे ही एक विशिष्ट प्रक्रिया से अवाङ्मनोगोचर रसानुभूति हो सकती है। (ख) भागवतगुणगानश्रवण से अन्तःकरण की वृत्ति भगवदाकार होती है—अन्तश्चेतना की तदाकार परिणति होती है, पश्चात् संस्कारशेष अप्राकृत आलम्बन ही स्थायीभाव बन जाता है। (ग) तीसरा पक्ष यह कि "शक्ति" ही "भक्ति" है जिसकी अभिव्यक्ति स्वरूपबोध के बाद वृत्ति द्वारा होती है। श्रवण-मनन आदि के द्वारा "दासोऽहम्" यह शुद्ध बोध (शुद्ध अहंता-ममता संवलित) होता है, तब अविद्यामूलक संसार (अशुद्ध अहंता-ममता) निवृत्त हो जाता है। तदनन्तर अक्षर ब्रह्म नामक इष्ट धाम में उसका प्रवेश होता है—"भाव" (स्त्रीभाव) दृष्टि का उन्मेष होता है। इस दृष्टि की प्रगाढ़ता से और भगवान के असाधारण अनुग्रह—शुद्ध पुष्टि—से लीला रस प्रकट होने लगता है। भाव का ही सान्द्ररूप महाभाव—ह्लादिनीवृत्ति रूप राधाभाव—है। रसरूप ब्रह्म का आस्वाद इसी शक्ति-समुन्मेष से सम्भव है। लीला राज्य का प्राकट्य होने पर भगवान भक्त के वासनाधीन होकर इयत्ताहीन आस्वाद वैविध्य प्रदान करते हैं। इसी क्रम को यों कहा गया है—

प्रथम ज्ञान, विज्ञान दुतिय मति, तृतिय भक्ति को भाव।
सूरदास सोई समष्टि करि व्यष्टि चित्त मन लाव।।

श्रवणादि द्वारा "ज्ञान", अनुरूप मनन तथा निदिध्यासन द्वारा स्वरूपबोध का "विज्ञान", तदनन्तर "भाव" का उदय होता है। भाव के सान्द्र होने से लीला का प्राकट्य—अर्थात् समष्टिरूप कृष्ण में व्यष्टि आराधक की चेतना का लय हो जाता है—लीलारस का आस्वाद होने लगता है। ऊपर जो "स्थायी" के विभिन्न रूपों का उल्लेख किया गया है—उनको देखकर ऐसा लगता है कि जैसे स्थायीभाव और रस के स्वरूप निर्धारण में कोई अराजकता है। पर विचार करने पर ऐसा कुछ नहीं लगता। भागवतगुणगानश्रवण से निर्मित वृत्ति या तत्प्रतिबिंबित भगवदाकार की व्यंजक होने के कारण और "भाव" या "शक्ति" तो अभिधा में स्थायी है। लीला के स्तर पर "शक्ति" का "रसमयकृष्ण" से स्वेच्छया विभाजन है—तत्त्वतः दोनों एक ही हैं—अतः भक्ति और रस—दो कैसे ?

निष्कर्ष यह कि आचार्य शुक्ल-सम्मत प्राकृत स्तर की भावभूमि से सम्प्रदाय-सम्मत अप्राकृत स्तर की भावभूमि सर्वथा भिन्न है। प्राकृत स्तर पर आस्वाद के लिए साधारणीकरण आवश्यक है, अप्राकृत भूमि पर अनावश्यक। वहाँ तो गुणगानश्रवणकाल में ही समाधि लग जाती है। प्राकृत स्तर पर अशुद्ध वासना है, अप्राकृत स्तर पर शुद्ध और स्वारसिकी। प्राकृत स्तर का रस लौकिक वासना का पुनरास्वाद है। अप्राकृत स्तर पर चिदानन्दमय रस का अपरोक्षीकरण है। प्राकृत स्तर पर भोक्ता की परिमित-प्रमातृता विगलित हो जाती है—स्त्री-पुरुष का भेद भी विगलित हो जाता है, पर भक्ति के परमास्वाद में पुरुष में भी स्त्री-भाव का समुन्मेष आवश्यक है। भक्तिरस में भक्त गोपीभाव से भोक्ता है और चिदानन्द-मय लीलामय पुरुषोत्तम भोग्य। भक्त द्रष्टा रहकर भोक्ता है—इसलिए इस काल में भी कृष्ण का समष्टि रूप और जीव का व्यष्टि रूप अक्षत रहता है। प्राकृत रस में यह सब नहीं रहता। एक संयोग का रहस्यमय चित्र है—

प्यारी उठि प्रिय के उर लागी।
अलस अंग, लटक लट छूटी, देखि स्याम बड़भागी।
सुरत मौन निसि बीती मानौ हसनि प्रस्त भयौ जागी।
अति सुख कंठ लगाइ लई हरि अरसपरस अनुरागी ।।

स्पष्ट है कि यहाँ काव्यशास्त्र की दृष्टि से प्राकृत स्तर पर होनेवाली प्रतीति अपनी ही लौकिक वासना का जागरणात्मक आस्वाद है। रहस्यशास्त्र में कहा गया है—"क्रिया सर्वा पि सैवान्न परं कामो न विद्यते।" प्राकृत तथा अप्राकृत—उभयविध स्तरों पर क्रिया एक ही होती है—अन्तर केवल इतना है कि एक जगह अदिव्य और दूसरी जगह दिव्य काम होता है। "ज्ञान" से "भक्ति" का यही तो वैशिष्ट्य है कि भक्ति में चिदानन्दमयलीलासहित श्रीकृष्ण भक्त के सर्वेन्द्रिय का भोग्य होता है—इन्द्रियवर्ग का भोग्य होता है—जो कल्पित द्वैत की भूमि पर सम्पन्न होता है। म. म. कविराज गोपीनाथ का कहना है—"पुष्टि भक्त

'सायुज्य' की आकांक्षा नहीं करते। वे कहते हैं कि ब्रह्मानन्द में प्रविष्ट होने पर भक्ति का विलास सम्भव नहीं होता। सायुज्य ब्रह्मानन्द का ही नामान्तर है। भिन्न रूप में स्थिति के बिना अनुभव रस स्फुरित नहीं होता, इस कारण पुष्टि भक्त सायुज्य नहीं चाहते। सायुज्य प्राप्त भक्तों को भी परमानन्द का अनुभव होता ही है—इसमें सन्देह नहीं। किन्तु उन्हें यह अनुभव अपने स्वरूप में ही प्राप्त होता है, इन्द्रिय-वर्ग के भोग्य रूप में नहीं। दूसरी ओर नित्यलीला में प्रविष्ट भक्त इस एक परमानन्द का अपने स्वरूप या आत्मस्वरूप में तो अनुभव करते ही हैं—इसके अतिरिक्त समस्त इन्द्रियों द्वारा भी उन—उनके भोग्य रूप में अनुभव करते हैं। इसीलिए पुष्टि भक्त स्वरूपान्तः पान रूपी सायुज्य नहीं चाहते। उन्हें नित्यलीला में प्रयास करना ही एकमात्र प्रार्थनीय जान पड़ता है।" (श्रीकृष्ण प्रसंग, पृष्ठ 343)

इस धारा में "वियोग" सम्भोग श्रृंगार का लौकिक वियोग की भाँति प्रतिपक्षी नहीं है—इसीलिए "ऊधौ, विरहौ प्रेम करै"—कहा गया है। विरह भी प्रेम का पक्षधर है—विपक्षी नहीं। दासभाव से लीलाराज्य में प्रवेश और स्त्रीभाव से योग प्राप्त कर चिरवियोग के प्रति जागरूक हो उठता है और सम्भोग की पीठिका में दबा हुआ यह चिरवियोगभाव आनन्द को अगणित कर देता है। इसीलिए परमविरहासक्ति को गोपीभाव की चरम-निष्पत्ति माना जाता है। इस चिर-विरह का तिरोभाव तब होता है, जब भक्त ब्रह्म का आश्रय पा लेता है।

कृष्णाश्रयी धारा में यह रहस्यमयता (प्राइवेसी) माधुर्य के उत्कर्ष के साथ उत्तरोत्तर और गहरी और प्रगाढ़ होती गयी है। भावना के धरातल पर भक्तों में यह विचार आया कि "आस्वाद" "स्वसुख" में है या "तत्सुख" में—अपने सुख में सुख उत्कृष्ट है या उनके सुख में। भावुक भक्तों ने तय किया "उनके सुख में"—"तत्सुख सुखित्व"—बड़ी बात है। अतः उस लीलाराज्य में "रसरूप राधाकृष्ण" के सुख में योग देकर भक्त का सुखी होना बड़ी बात है। इस भूमि पर "सखीभाव" की साधना का प्रवेश हुआ। डॉ. गोवर्धनाथ शुक्ल का विचार है कि साधना का यह पक्ष स्वामी हरिदास के सम्पर्क का प्रभाव है। स्वामी हरिदास सूरदास के समय में वर्तमान थे। अष्टछाप अष्टसखा के अवतार माने जाते हैं। परम्परा में माना जाता है कि ये दिन में सखा और रात्रि में सखीभाव का अभिमान रखते हैं और स्वामी तथा स्वामिनी के सुख में योग देकर "तत्सुख सुखी" होते हैं। यह सखी भाव उत्तरोत्तर गहरा होता गया और अनन्य नृपति स्वामी हरिदासजी के प्रति बिहारिनदासजी के शब्दों में यह स्थिति हो गयी कि जहाँ एक चना में दो दाल के रूप राधा तथा कृष्ण की कल्पना थी—वहाँ एक चना में तीन दाल की भावना हो गयी और उन तीन में स्वामीजी की भी गणना होने लगी। अप्राकृत रस जहाँ पहले "ब्रज-रस" के नाम से स्मरण किया जाता था, वहाँ वह निम्बार्क मतानुसार "वृंदावन रस" तक सिमटकर प्रगाढ़ हो गया और स्वामी हरिदासजी की दृष्टि में 'नित्यविहाररस' तक सिमटकर और भी प्रगाढ़ हो गया। इसीलिए

स्वामीजी को अनन्यरसिकनृपतिशिरोमणि कहा गया। रस की रहस्यमयता का यह चरम स्वरूप माना गया।

"प्रसाद" जी की यह धारणा वजन रखती है कि पूर्वांचल की शाक्त-भक्ति-धारा के "राधाकृष्ण" "स्व" हैं और मध्यदेशीय वैष्णवधारा के "राधा-कृष्ण" "पर" हैं। इसीलिए कविराज गोपीनाथ का मत है—"भक्ति तत्त्व के रहस्य का वैष्णव सहजिया जनों ने जितना विश्लेषण किया है, उतना अन्यत्र नहीं देखा जाता। बौद्ध वज्रयान एवं सहजयान किस प्रकार परवर्ती युग में वैष्णव सहज सिद्धान्त के रूप में आविर्भूत हुए--इसका विवरण ऐतिहासिक आलोचना का विषय है।" (श्रीकृष्ण प्रसंग, पृष्ठ—376) इस मत में परमार्थ तत्त्व का नाम "सहज मनुष्य" है—इसीलिए चण्डीदास ने "सबार ऊपर" कहा है। स्वतःसिद्ध या नित्य मनुष्य के रूप में भी यह जाना जाता है। यह अप्राकृत नराकारराधाकृष्णमय युगनद्ध रूप है। ये शरीर से दो पर आत्मा से एक हैं। इस सहज मनुष्य की साधना अत्यन्त जटिल और गुह्य है। यह साधना साम्प्रदायिक वैष्णवों में नहीं है--है भी तो अत्यन्त गुप्त। यहाँ साधक अपने "रूप" पर राधा-कृष्ण के "स्वरूप" का "आरोप" कर साधना में प्रवृत्त होता है और "सहज मनुष्य" का रसमय सन्धस्त पाता है। गौडीय मत वालों का सहजियों से सम्पर्क था और सम्भव है बहुत से प्रभाव भी हों। कहा तो यहाँ तक जाता है कि मथुरा में केवल "कृष्ण" थे—"शक्ति" रूप में "राधा" का प्रवेश चैतन्यमतानुयायियों ने वृन्दावन में कराया। आज भी मथुरा में कृष्ण और वृन्दावन में राधा का महत्त्व है। निष्कर्ष यह कि मध्यदेशीय वैष्णवसाधना में "पर" का प्राधान्य होने से दुःखवाद और विरह का अनु-प्रवेश हुआ। पर पूर्वांचल में "स्व" को केन्द्र में रखकर जो अद्वैतीशाक्त धारा है—उसमें प्राप्य को पाने की तड़प नहीं है! सहजिया कहते हैं "रूप" ही "स्वरूप" है, पर कर्म-जन्य आवरण "रूप" का अन्यभावभास कराता है—आसक्ति की डोर कट जाय—तो "रूप" का "स्व-रूप" अपरोक्ष हो जाय। अप्राप्ति तक तो तड़प होना सम्भव है, पर प्राप्ति के बाद भी पीठिका में विरह बना रहता है और संयोग सुख को बढ़ाता है—यह भावना मध्यदेशीय वैष्णवों में ज्यादा दृष्टिगोचर होती है। इस धारा से जुड़े हुए कबीर स्पष्ट कहते हैं—"तन पाया तन बीसरा, जब मन धरिया ध्यान।

तपन गई सीतल भया, जब सुन्नि किया असनान।।"

इसलिए कबीर की रहस्यमयी प्रेमसाधना में शाक्त आनन्दधारा का सिद्धों से होता हुआ विशुद्ध प्रवाह और कृष्ण भक्तों में शक्तिवाद के प्रवेश से मिश्र प्रवाह—की बात प्रसादजी भी कहते हैं।

(ग) शुक्लजी निर्गुणधारा में प्रवाहित रहस्यमयता का स्रोत अभारतीय बताते हैं—प्रसादजी भारतीय। कबीर को तो उन्होंने स्पष्ट ही सिद्धों से होती हुई चली आती शक्तिवादी "स्व" केन्द्रक आनन्दधारा का स्नातक माना है। विरह की बात कबीर में भी है। उन्होंने स्पष्ट ही कहा--

यह तन जालौं मसि करूं ज्यू धूआँ जाइ सरग्गि ।
मति वै राम दया करँ बरसि बुझावै अग्गि ।।

लेकिन स्वरूपोपलब्धि के बाद भी विरह की व्यंजना हो—ऐसा नहीं ।

(घ) सूफियों में प्राप्त तत्त्वों का स्रोत भारत ही है—प्रसादजी ने "रहस्य-वाद" शीर्षक निबन्ध में स्पष्ट किया है । उनका विचार है कि सूफीमत में प्राप्त अद्वैततत्त्व का संक्रमण अरबों का सिन्ध से सम्पर्क होने के बाद हुआ । सामीमतों में "अद्वैत" का स्वर है कहाँ ? वह हो भी तो अपराध माना जाता है । यह तो मुहम्मद साहब के शतकों बाद चिन्तन ने प्रवेश किया और "तौहीद" की अद्वैती व्याख्या की गयी । क्रिश्चियन रहस्यवाद में यूनान की अद्वैती चिन्ता-धारा व्याप्त है । कविराजजी की धारणा है कि चैतन्यमत, त्रिपुरामत तथा प्रत्यभिज्ञा का सूफीमत से अद्‌भुत साम्य है । जायसी जब कहते हैं—

"आपुहि आपु जो देखन चहा ।
....
आपुहिं घट घट मंह मुख चाहै ।"

तो अद्वैतपरक आगमसम्मत चरम सत्ता के विश्वात्मक और विश्वातीत रूपों का स्मरण हो आता है और स्मरण हो आता है—आत्मप्रसार के माध्यम से आत्म-रमण की लीला का । रहा यह कि कबीर और जायसी में 'भावना" ज्ञात के परे "अज्ञात" (हाल में) तक रहस्यमय तरीके से जाती है—यह भी ठीक नहीं । सूफी तो स्पष्ट ही मानते हैं कि जब उस "अलजात" ने अपने ऐश्वर्य और माधुर्य को देखना चाहा—तो "अलसिफत" के सहयोग से अभावात्मक विश्व दर्पण तैयार किया, जिसमें उसकी छाया पड़ी । यह छाया भावमय है । अभाव में लक्षित होने-वाला भाव का प्रतिबिम्ब मुरीद को खींचता है—हाँ, यह अवश्य है कि यह आकर्षण जिस सौन्दर्य-संसारी सौन्दर्य में होता है—तत्त्वतः वह उस परम सुन्दर तत्त्व का है । निर्गुणिया सन्त भी आध्यात्मिक आकर्षण से परिपूर्ण गुरु का सहारा लेता है । इस प्रेमसाधना से किसी अतिप्राकृत शक्ति की उपलब्धि होती है—और रहस्यमय सौन्दर्यानन्द की उपलब्धि होती है । कबीर कहते हैं—

"कबीर तेज अनंत का ऊगी सूरज सेणि ।
पति सँग जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा वेणि ।।

निष्कर्ष यह कि आध्यात्मिक अनुभूति मात्र अवाङ्‌मनोगोचर है—यदि किसी साम्प्रदायिक साधना के फलस्वरूप व्यक्त हुई है ।

आधुनिक काल—रहस्यवाद

प्रसादजी कहते हैं कि छायावादियों की रचनाओं में जो रहस्यवादिता लक्षित होती है वह शक्तिमूलक भारतीय अद्वैती रहस्यवाद का सहज विकास है । नव-जागरण का अभिप्राय है कि आत्मोत्थान के प्रति सामूहिक जागरण । विशेषज्ञों की धारणा है कि इस्लाम के आक्रमण के बाद होनेवाला सामूहिक जागरण

अन्तर्मुखी था—उसमें समाज के बहिरंग और अन्तरंग—दोनों पक्षों के जागरण का स्वर होते हुए भी प्रमुखता अन्तरंग जागरण की ही रही, आध्यात्मिक चेतना की ही रही। यद्यपि जनसामान्य-गत भावशक्ति की सम्भावनाओं और भावप्रसार के आलम्बन भूत जगत् की परमार्थिकता की स्थापना भागवतवैष्णवधारा ने जमकर की और आचार्य शंकर की ज्ञानपद्धति तथा जगत् की मिथ्यात्व धारणा का विरोध किया—यह बताया कि भाव का आलम्बन यह सारा जगत् आराध्य का ही रूपान्तरण है—अतः मन जहाँ भी जाय - जाने दो—"सर्वं शिवमयं यतः"—एकनिष्ठता आवश्यक है तथापि बहिरंग सामूहिक विकास की जगह चेतना व्यक्तिगत आध्यात्मिक विकास की ही ओर ज्यादा उन्मुख रही। परिणाम यह हुआ कि बहिरंग पक्ष उपेक्षित हो गया—समाज की स्नायविक चेतना मृतप्राय हो गयी—विकास अवरुद्ध हो गया, रूढ़ियों की सड़ाँध फैलने लगी, समाज की वह आँख और उसका स्नायुतन्त्र—दोनों निष्क्रिय और अन्धे हो गये। लगता है प्रेमचन्द का सूरदास इसी भारतीय ऐतिहासिक चेतना की परिणति है—जो "अपनी जमीन" की रक्षा कर उसकी सम्भावनाओं का प्रसार तो चाहता है—पर उसकी बहिरंग चेतना ही अन्धी है। फलतः समदिक् प्रसारी चेतना का अभाव होने से वह ऊपर-ऊपर असफल रहा और भावी पीढ़ी को और सोचकर आगे बढ़ने को प्रोत्साहित कर गया। अतः बीसवीं शती के आसपास जो नव-जागरण हुआ—उसमें मध्यकाल की "शक्ति" भावना पुनः बहिरंग और अन्तरंग के समन्वय की दिशा में सक्रिय हुई। मध्यकाल और आधुनिक काल—दोनों जागरणों में "शक्ति" वाद ही मुखर है। मध्यकाल की "भक्ति" शक्ति का पर्याय थी और आधुनिक काल में भी आगमसम्मत "शक्ति" के आह्वान का स्वर मुखर होता श्रुतिगोचर होता है। इस स्वर को "दर्शन" का हस्तावलम्ब और काव्यात्मक परिणति छायावादी काव्यचेतना देती है। इसलिए प्रसादजी का यह कहना कि आधुनिक रहस्य क्रमागत अद्वैती रहस्यवाद की स्वाभाविक परिणति है—संगत है। यह अवश्य है कि इन लोगों ने इसे बौद्धिक स्तर पर ही ग्रहण किया। सम्प्रदाय-सम्मत साधना की भूमि (मध्यकाल की) नहीं थी। इसकी पुष्टि इन लोगों के वक्तव्यों से भी होती है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिज्ञासा के स्तर के रहस्यवाद को इसीलिए वास्तविक, काव्यात्मक सम्भावनाओं से संवलित और रमणीय निरूपित किया। पर जहाँ-जहाँ संयोग और वियोग की साम्प्रदायिक अभिव्यक्तियाँ देखीं—वहाँ उन्हें सन्देह ही रहा। काव्य का स्रोत रहस्यमय हो—यह अलग बात है, पर "रहस्य"-मयी सत्ता का साधना के बल पर अपरोक्षीकरणपूर्वक उद्गार हो—यह दूसरी बात है। शुक्लजी ने इसीलिए जिज्ञासा के स्तर की रहस्यमयी उक्तियों की दाद दी है, पर दूसरे को सन्दिग्ध बताया है। शुक्लजी अपरिचित के प्रति "राग" नहीं मानते—इसीलिए संयोग-वियोग की अनुभूति भी नहीं मानते। उनकी दृष्टि में "अज्ञात" की जिज्ञासा ही हो सकती है, अभिलाषा नहीं।

प्रत्येक भावुक विचारक को सृष्टि की रहस्यमयता कुछ कहने को प्रेरित करती है—

"हे अनन्त रमणीय कौन तुम
यह मैं कैसे कह सकता ?
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो
भार विचार न सह सकता ?
महानील इस गगन व्योम में
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान्
ग्रह-नक्षत्र और विद्युत्कण
किसका करते-से सन्धान ?

अनुभव में गहराई से जो आता है, बुद्धि उसे पकड़ नहीं पाती— वह रहस्य ही रह जाता है। संसार की संसरणशीलता किसी गन्तव्य को लक्ष्य कर है या यों ही। क्या सम्भव है कि इतनी व्यवस्थित गति निष्प्रयोजन या अपने गन्तव्य में अव्यवस्थित हो ? ये सब बातें चिन्तक को "रहस्य" की ओर ले जाती हैं।

आचार्य शुक्ल पन्तजी के तो पक्षधर हैं, पर शेष तीनों के विपक्षधर। प्रसादजी के विपक्ष में कहा—"मैं रहस्यवाद का विरोधी नहीं। मैं इसे भी कविता की एक शाखाविशेष मानता हूँ, पर जो इसे काव्य का स्वरूप समझते हैं— उनके अज्ञान का निवारण मैं बहुत ही आवश्यक समझता हूँ।" (चिन्ता., भाग-2, पृ. 37)। प्रसादजी भारतीय परम्परा के अनुसार कहते हैं कि काव्य के लिए अपेक्षित मनोदशा रहस्यमय है—क्योंकि वह सहसा अकस्मात् (जिसका कारण अज्ञात है) उभरती है। शुक्लजी "प्रतीक"की रहस्यमयता के खण्डन के माध्यम से मानो इसी रहस्यमयता की वैज्ञानिक व्याख्या कर रहे हों। उनके हिसाब से इसके मूल में वर्तमान और वंशानुगत वासना का दीर्घ प्रभाव सक्रिय रहता है। (वही, पृष्ठ 99)। ज्ञानपरक चिन्तन की एकतानता इन सबसे सर्जक को जोड़ती है। प्रसादजी मानते भी हैं कि इतिहास के मनन से यह असाधारण दशा आती है। निरालाजी पर स्पष्ट आक्षेप करते हुए शुक्लजी कहते हैं कि—"जो यह भी नहीं जानता कि "ब्रह्मवाद" और "कविता" किन चिड़ियों के नाम हैं, जो अंग्रेजी की अन्धी नकल पर बनी बंगला की कविताओं तथा वैष्णव कवियों की बंग समीक्षाओं तक ही सारी दुनिया खतम समझता है, वह यदि मुँह बना-बनाकर कहने लगे कि 'जब मैं ब्रह्मवाद की कोई कविता देखता हूँ, तब हर्ष से नाच उठता हूँ', तो एक सुशिक्षित सुननेवाले पर क्या असर होगा ? (चिन्ता., भाग-2, पृष्ठ 67)। निरालाजी ने अपने एक निबन्ध में यही पंक्ति लिखी है। महादेवीजी को लक्ष्य कर कहा है—"जिस अनुराग के साथ प्रकृति की भव्य योजना की जाती है उसे उसी अव्यक्त सत्ता के प्रति कहने में क्या हर्ज है ? तो इसका उत्तर यह है कि इससे भावक्षेत्र में असत्य का प्रचार होता है और पाखण्ड का द्वार खुलता है।"(67) अन्त में तो वे झुंझला भी उठते हैं—"जिस तथ्य का हमें ज्ञान

नहीं, जिसकी अनुभूति से वास्तव में कभी हमारे हृदय का स्पन्दन नहीं हुआ, उसकी व्यंजना का आडम्बर रचकर दूसरों का समय नष्ट करने का हमें कोई अधिकार नहीं। जो यह कहे कि अज्ञात और अव्यक्त की अनुभूति से हम मतवाले हो रहे हैं, उसे काव्यक्षेत्र से निकालकर "मत-वालों" (साम्प्रदायिकों) के बीच अपना हाव-भाव और नृत्य दिखाना चाहिए।" (वही, पृष्ठ 51)

प्रसादजी का तर्क रहस्यवाद के पक्ष में हम देख चुके हैं, सम्प्रति महादेवीजी के तर्क क्या हैं—यह देखना है। महादेवीजी कहती हैं, रहस्यवाद भावावेश की आँधी नहीं है और विदेशी भी नहीं। शुक्लजी जिसे अन्तःकरण की वृत्तिविशेष-ज्ञान कहते हैं, वह चिन्मय ज्ञान के व्यंजक होने के कारण उपचारतः ज्ञान कहा जाता है—तत्त्वतः वह ज्ञान है ही नहीं। इसीलिए "अद्वैततत्व" के लिए श्रुति "जानतामविज्ञातम्" कहती है। तुलसीदास उसी का अनुवाद करते हुए "जिन जाना तिय जाना नाहीं" कहते हैं। भारतीय परम्परा "अनुभूति" साक्षिक "सत्य" की सिद्धि में चिन्तन का महत्त्व मानती है—निरपेक्ष चिन्तन को वह अप्रतिष्ठ मानती है। ब्रह्मसूत्र है-"तर्काप्रतिष्ठानात्"। आचार्यों का चिन्तन अनुभूति साक्षिक है—इसीलिए यहाँ दर्शन (फिलासफी) और साधना (थियालाजी) पश्चिम की तरह कटे हुए नहीं हैं। शुक्लजी पश्चिम की ओर ज्यादा मुड़कर "रहस्यवाद" को परख रहे हैं। जब वे मध्यकालीन सन्तों की अनुभूतिमूलक उक्तियों के बावजूद उन्हें प्रकाशवादी (रहस्यवाद के विपरीत) कहते हैं—तब उनकी हठवादिता प्रतीत होती है। शुक्लजी मानते हैं "यहाँ रहस्य और गुप्तयोग तन्त्र आदि के भीतर ही रहे।" (वही, पृष्ठ 100) और यही तन्त्र मध्यकालीन भक्ति का स्रोत है। छायावादान्तर्गत रहस्यवाद पर झुंझलाते हैं—तो उतना असंगत नहीं लगता। जब महादेवीजी उस "अज्ञात" से "परिचय" का प्रमाण देती हुई कहती हैं—

जो न प्रिय पहचान पाती
दौड़ती क्यों प्रति शिरा में प्यास विद्युत-सी तरल बन
क्यों अचेतन रोम पाते चिर व्यथामय सजग जीवन
किसलिए हर साँस तम में
सजल दीपक राग गाती ?

और इसी सन्दर्भ में घनानन्द की उक्ति स्मरण आती है—

अंतर हौ किधौं अंत रहौ, दृग फारि फिरौ कि अभागिनी भीरों
आगि जरौं अकि पानी परौं अब कैसी करौं हिय का विधि धीरौं
जौ घनआनंद ऐसी रुची तौ कहा बस है अहो प्राननि पीरौं
पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हैं धरती में धँसों कि अकासहि चीरौं।

दोनों में "अप्राप्त" के प्रति अभिलाषा है। महादेवी अपनी तड़प या अभिलाषा :'ज्ञात" के प्रति कह रही हैं—वे अपनी तड़प के औचित्य का समाधान दे रही हैं। महादेवी में कलात्मक उद्‌गार हैं, घनानन्द में निरावरण तड़प है। इसीलिए जैनेन्द्र की यह टिप्पणी सार्थक लगती है कि महादेवी के हृदय को उनकी बुद्धि

सम्हाले हुए है—घनानन्द बेसुध हैं, मीरा बेसुध है।

सम्प्रति महादेवीजी की धारणा और पोषक तर्क दृष्टव्य हैं। महादेवीजी कहती हैं कि प्रकृति की अनेकरूपता पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोप कर उसके प्रति आत्मनिवेदन "रहस्यवाद" का सोपान है। छायावादी केवल आरोप तक जाता है और रहस्यवादी आत्मनिवेदन तक। छायावादी कवि प्रकृति में व्याप्त अखण्ड असीम चेतना के साथ अपने ससीम हृदय का तादात्म्य अनुभव करता है और रहस्यवादी उस अखण्ड सत्ता के प्रति आत्मनिवेदन भी करता है। हृदय के अभाव को दूर करने के लिए माधुर्य भावात्मक सम्बन्ध चाहिए और वह भी असीम से उनके अनुसार मानवीय सम्बन्धों में जब तक अनुरागजनित आत्म-विसर्जन का भाव नहीं घुल जाता, जब तक वे सरस नहीं हो पाते और जब तक यह मधुरता सीमातीत नहीं हो जाती, तब तक हृदय का अभाव दूर नहीं होता। वे यह भी कहती हैं कि हमारी अन्तःशक्ति भी रहस्य से पूर्ण है और बाह्य जगत का विकास-क्रम भी—अतः जीवन में ऐसे अनेक क्षण आते हैं, जिनमें हम ऐसे रहस्य के प्रति जागरूक हो जाते हैं। स्वभाव से मनुष्य अपूर्ण भी है और ऐसी अपूर्णता के प्रति जागरूक भी। अतः किसी उच्चतम आदर्श, भव्यतम सौन्दर्य का या पूर्ण व्यक्तित्व के प्रति आत्मसमर्पण द्वारा पूर्णता की इच्छा स्वाभाविक हो जाती है। उनके अनुसार अखण्ड चेतन से तादात्म्य सम्बन्ध केवल बौद्धिक भी हो सकता है, पर रहस्यानुभूति में बुद्धि का क्षेत्र ही हृदय का प्रेम हो जाता है। जब चिन्तन ने 'जानताम विज्ञातम्' कहा था, तभी तो हृदय 'तत्वमसि' कह उठा था। इस प्रकार रहस्यवादी आत्मसमर्पण बुद्धि की सूक्ष्म व्यापकता से सौन्दर्य की विविध प्रत्यक्षता तक फैल जाने की क्षमता रखता है। हृदय की सीमा एक असीमता में अभिव्यक्ति चाहती है और हृदय के अनेक रागात्मक सम्बन्धों में माधुर्य-भावमूलक प्रेम ही उस सामंजस्य तक पहुँचा सकता है, जो सब रेखाओं में रंग भर सके, सब रूपों को सजीवता दे सके और निवेदक को इष्ट के साथ समता के धरातल पर खड़ा कर सके। कवि व्यापक शब्द सौन्दर्य की विविधता में अरूप को रूप में अभिव्यक्त करता है। उनके अनुसार रहस्यवाद में द्वैत की स्थिति भी आवश्यक है और अद्वैत का आभास भी, क्योंकि एक के अभाव में विरह की अनु-भूति असम्भव हो जाती है और दूसरे के बिना मिलन की इच्छा आधार खो देती है।

इन सबसे स्पष्ट है कि इन लोगों का 'रहस्यवाद' कल्पना, भावना और चिन्तन की प्रकृत भूमि पर ही अवस्थित है—मध्यकाल की अवाङ्मनोगोचर स्थिति नहीं है। यह तो मानता हूँ कि जागरण काल में राष्ट्रीय प्रतिभाएँ सुप्त आत्मशक्ति का उद्बोधन करती हैं—और इस छायावाद काल में भी यह है। सारा छायावाद 'शक्ति' और उसके रचनात्मक रूप प्रेम तथा सौन्दर्य के गान से आपूरित है। 'कामायनी' और 'रत्नावली' शक्ति के ही प्रतीक हैं।

नव रहस्यवाद

छायावादोत्तर व्यक्तिवादी प्रस्थान में विशेषकर "अज्ञेय" की रचनाओं को केन्द्र में रखकर रहस्यवाद के नव्य रूप की चर्चा आलोचकगण कर रहे हैं और उस नवोन्मेष को "नव रहस्यवाद" की संज्ञा भी दी है। यह नव्य (New) विशेषण जिसके आगे लगता है, उसकी नये बौद्धिक परिवेश में नयी व्याख्या होती है और यह व्याख्या उसमें निहित सम्भावना के कारण होती है। रहस्यवाद से उस अनुभूति को पकड़ा जाता है, जिसका साक्षी प्रमाता का हृदय तो होता ही है, परन्तु बुद्धि उसे पकड़ नहीं पाती। वह बुद्धि के लिए अव्याख्येय होती है।

अज्ञेय के काव्य विकास के सोपान से जो लोग परिचित हैं, वे जानते हैं कि वे छायावादी संस्कार से घटित साहित्यिक व्यक्तित्व का विज्ञान के विभिन्न अनुशासनों के आलोक में परिमार्जन-परिशोधन करते हुए आगे बढ़ते हैं। उनका व्यक्तिवादी चिन्तक व्यक्तित्व क्रमागत "दर्शनों" की अपेक्षा "विज्ञान" की ओर अधिक झुका हुआ है—फलतः "बुद्धि" को सर्वोपरि महत्त्व देता है। आज विज्ञान विश्व-विकास की व्याख्या में भूतविज्ञान, जीवविज्ञान तथा मनोविज्ञान की विविध शाखाओं का सहारा लेता है, पर इस गुत्थी को सुलझाने में कहीं पारस्परिक अन्तर्विरोध उभर आता है और कहीं रहस्य का सहारा लेना पड़ता है। आइन्सटाइन और युंग ने इस ओर अनेक बार इंगित किया है। कभी-कभी ये वैज्ञानिक ऐसे बिन्दु पर पहुँच जाते हैं, जहाँ एक ओर तो उनकी सीमाएँ जवाब देने लगती हैं और दूसरे उनके औजार जवाब देने लगते हैं। अज्ञेय यद्यपि सचेत होकर घोषणा करते हैं कि उनका रहस्यवाद "ईश्वर" की ओर नहीं जाता—अर्थात् जो कुछ चिन्तन के दरम्यान अनुभव ग्रन्थियाँ उलझी रह जाती हैं, उन्हें वे "ईश्वर" नाम नहीं देना चाहते—तथापि रहस्यवाद की मूल चेतना से कोई फर्क नहीं पड़ता। "ईश्वर" संज्ञा देने से उन्हें लगता है—पुरानी जोती हुई जमीन की गन्ध आ जायेगी—उनकी मनःस्थिति से न्याय नहीं होगा। रहस्यवाद की मूल भावना यही है कि प्रतीत बुद्धि की पकड़ में नहीं आता, सीमा को असीम से जोड़ता है। उन्हीं की एक रचना लें—

शक्ति असीम है
मैं शक्ति का एक अणु हूँ
मैं भी असीम हूँ
एक असीम बूंद
असीम समुद्र को अपने भीतर प्रतिबिम्बित करती है
एक असीम अणु
उस असीम शक्ति को जो प्रेरित करती है
अपने भीतर समा लेना चाहता है

ऐसी ही उनकी अनेक रचनाएँ हैं। वे क्षण में अखण्ड काल की सत्ता वैसे

ही देखते हैं, जैसे वस्तुओं के सीमित रूप में अरूप की सत्ता।

रूपों में एक अरूप सदा खिलता है
गोचर में एक अगोचर अप्रमेय
अनुभव में एक अतीन्द्रिय
पुरुषों के एक हर वैभव में ओझल
अपौरुषेय मिलता है।

जिस प्रकार एक में अनेक और अनेक में एक को एक साथ देखने-दिखाने में समर्थ संचित रूपा भारतीय प्रज्ञाने तत्व और उसके अनुभव के **निगम** रूप में साध्य-प्रवण तथा **आगम** रूप में साधन-प्रवण व्याख्यान दिये हैं—सत्य की खोज की उसी दिशा में "विज्ञान" भी यत्नशील है और जगत्‌विकास के नियमों के उद्‌घाटन में ही अभी उलझा हुआ है। भारतीय धारा की आगमिक चेतना "शक्ति" वादिनी है और विज्ञान भी "शक्ति" में आस्था रखता है—पर जहाँ पहला उसे "चेतन" मानता है, वहाँ विज्ञान "जड़"। गत्यात्मक दोनों मानते हैं। आगम "गति" को समझने के लिए "स्थिति" की बात करता है और विज्ञान स्थितिरूप बिन्दुओं की अविच्छिन्न शृंखला को ही गति कहता है। आगम चरम तत्त्व को धनात्मक तथा ऋणात्मक (शक्ति एवं शून्य—शक्तिमान) समरस रूप कहता है, विज्ञान न्यूट्रान और प्रोटान को परमाणु का समरस केन्द्र कहता है, जीव विज्ञानी जीन्स के घटक डी. एन. ए. तथा आर. एन. ए. को बताता है। युंग का मनोविज्ञान संकेत-भर देता है। हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि विज्ञान भारतीय मेधा की उपलब्धि का ही पुनराख्यान कर रहा है। आज का जागरूक कवि इन उपलब्धियों से परिचित होता है और जीता है। "तथ्य" को अपना "सत्य" बनाता है और "सुन्दर" ढंग से सम्प्रेषित करता है—अज्ञेय ने यह रास्ता पकड़ा है। उनकी अनेक ऐसी रचनाएँ हैं जो क्षण में अखण्डकाल की और वस्तुओं के सीमित रूप में अरूप की असीमता को ध्वनित करती हैं।

डॉ. रामविलास शर्मा ने तो उन कवियों की रचनाओं में भी इस रहस्य-वादी (नव्य) चेतना का प्रसार देखा है, जो अपने को प्रगतिवादी घोषित करते हैं। ये हैं मुक्तिबोध और शमशेरबहादुर सिंह। दोनों ही शर्माजी की इस धारणा से अपने को असहमत मानते हैं। यह तो स्पष्ट है कि सामाजिक चेतना के स्तर पर मुक्तिबोध प्रगतिवादी हैं—पर उनके अन्तस में ऐसे बहुत-से ज्ञात-अज्ञात संस्कार हैं जो उन्हें व्यक्तिवादी, रोमेंटिक तथा मन की अतल गहराइयों में झाँकनेवाला बनाते हैं। विश्व-चेतस से एकरस उनका आत्मचेतस् जब अपने समाज की विद्रूप स्थिति में आकण्ठ मग्न होता है, तो "मार्क्सवाद" से उन्हें आशा बँधती है और उसके प्रति समर्पित होते हैं, लेकिन अनुभूति अपनी अभिव्यक्ति की जो "फेंटेसी" वाली पद्धति पकड़ती है—वह कुछ और ही आभास देती है। क्या बात है जो भारतीय अभिजात अभिव्यक्ति पद्धति के मर्मज्ञ नागार्जुन की जनवादी भावधारा को जन की भाषा में उतारने को बाध्य करती है और उससे

अपरिचित मुक्तिबोध को गैरजनवादी माध्यम की ओर मोड़ती है। समाजवादी धारा की कविता व्यक्तिवादी धारा की कविता से अभिव्यक्ति पद्धति में होड़ ले —केवल इस भावना से इस ओर मुड़ना क्या मूल लक्ष्य से पृथक् होना नहीं है ? श्री शमशेरजी भी यह तो मानते हैं कि समाज को यदि वर्तमान विद्रूप आर्थिक वैषम्य पूरित ढाँचे से मुक्ति दिलानी है, तो एकमात्र मार्क्स का जीवन दर्शन ही ग्राह्य है, पर सम्पन्न मनुष्य को मानसिक विकृतियों (राग-द्वेष) से मुक्ति दिलाकर चिराकांक्षित सुख-शान्ति पानी हो तो यह अध्यात्मवाद ही कर सकता है। पण्डित नेहरू ने भी "संस्कृति के चार अध्याय" की भूमिका में स्पष्ट कहा है कि मार्क्सवाद हमें अपने वर्तमान और उसकी समस्याओं को समझने में काफी दूर तक मदद करता है, पर अन्ततः आर्थिक विकास ही हमारा लक्ष्य नहीं है—जिन्दगी इससे **कुछ और** भी है। ज्ञात भाव से रहस्यवाद से चिढ़नेवाले **पं.** नेहरू जब "कुछ और" शब्द का प्रयोग करते हैं तब वे अज्ञात भाव से Mystic touch देते दिखायी पड़ते हैं। यह भारत का जातीय संस्कार है जो मन की अतल गहराइयों से ज्ञात मन की प्रतिरोधक रेखाओं को लाँघकर ऊपर छलक ही पड़ता है। डॉ. शर्मा ने ही शमशेर की एक रचना उद्धृत की है—

नक्षत्र वहाँ कभी हमारा पार नहीं पायेंगे
उनसे मुक्त जहाँ हम घुल-मिलकर
अपना ही स्वत्व है
और वही है जो कुछ है
है-है—से आगे और—पार
जो कि है का है का है का है···
·····················है।

स्पष्ट ही यहाँ कवि कह रहा है कि उसकी अनुभवात्मक चेतना जिस भूमि पर स्थित है उसका पार नक्षत्र भी नहीं पा सकते। यों सामान्य धारणा है कि नक्षत्र लोक में ऐसे भी नक्षत्र हैं जिनकी रश्मियाँ प्रकाश गति से चलकर अभी तक भू-लोक पर नहीं पहुँची। अन्दाज किया जा सकता है कि नक्षत्र का पार पाना जब असम्भव समझा जा रहा है तब जिसका पार नक्षत्र भी नहीं पा सकते—वह कम रहस्यमय है ? उन्हें जो भी अनुभव होता है, वह अनुभवातीत से जुड़ा हुआ—इसीलिए उनका "है" (अनुभवात्मक सत्ता) किसी अनुभवातीत किन्तु विद्यमान "है" का अंश जान पड़ती है। क्या इसमें रहस्यमयता की चेतना अविद्यमान है ? पं. नेहरू भी The Discovery of India'[1] में विज्ञान के विभिन्न

1. Our five senses and what they can perceive, obviously, do not exhaust the universe During the past twenty-five years there has been a profound change in the scientist's picture of the physical world. Science used to look at nature as something almost apart from man. But now, Sir James Jeans Tells us that the essence of science is that 'man no

→

अनुशासनों के आलोक में बौद्धिक यात्रा करते हुए कभी-कभी इस प्रश्न पर पहुँच जाते हैं कि जिन "आँखों" से हम सब कुछ जानने का प्रयास कर रहे हैं उन आँखों को कैसे देखा जाये ? जिज्ञासा क्या यह नहीं हो सकती ? प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आचार्य कहते हैं कि—

स्वपदा स्वशिरच्छायां यद् वल्लाङ्धितुमीहते।
पादोद्देशे शिरो न स्यात् तथैवेयं वैदंवी कला।

जैसे अपने पैर से अपनी छाया का लंघन असम्भव है, उसी प्रकार अपनी बुद्धि से आत्मा का आकलन असम्भव है।

देखने में तो यह भी आ रहा है कि स्वामी मुक्तानन्द के सम्पर्क में आकर सूर्योदयी कविता के प्रवर्तक श्री वीरेन्द्रकुमार जैन रचना की नयी ऊर्जा लेकर रहस्यवाद के स्तर पर अपनी कविताओं में कुछ संकेत दे रहे हैं।

इसी प्रकार हिन्दी की रहस्यवादी कविता साधनाजन्य साम्प्रदायिक अनुभूतियों से लेकर विशुद्ध "दर्शन" और "विज्ञान" के प्रभाव में बौद्धिक और काल्पनिक स्तरों तक प्रवाहित हो रही है। जहाँ तक ग्राहक की दृष्टि से इन कविताओं के आस्वाद का सम्बन्ध है—निःसंदेह वह समान संस्कार सम्पन्न संवादी हृदयों को ही हो सकता है—तथापि लौकिक (पारिवारिक) रागात्मक सम्बन्धों के आवरण में व्यक्त भावनाओं का एक सीमा में अप्राकृत के अतिरिक्त प्राकृत मानस द्वारा भी आस्वाद लिया जा सकता है। सन्तों की राग-विराग-सिक्त अभिव्यक्तियों में प्राकृत मानस को भी आस्वादमग्न करने की क्षमता है। "दर्शन" और "विज्ञान" के आलोक में कल्पना और भावना के स्तर पर होनेवाली रहस्यमय अभिव्यक्तियाँ भी अपने काव्यात्मक उपादानों की रमणीयता से आकर्षक बन जाती हैं। महादेवी की रचनाओं में निहित भावधारा पर सन्दिग्ध रहकर भी रामचन्द्र शुक्ल आकृष्ट हुए हैं और प्रशंसा की है। जैनेन्द्र तर्क देते हैं कि महादेवी की चेतना में शत-प्रतिशत मीरा की तरह घुल जाने का भाव नहीं है—बुद्धि सदा उनके भाव को हस्तावलम्ब दिये रहती है—इसीलिए उनमें बुद्धिसाध्य कलात्मक प्रौढ़ि उभर आती है—तब भी वे काव्यात्मकता का

→ longer sees nature as something distinct from himself.' And then the old question arises which troubled the thinkers of the Upanishads; how can the knower be known? How can the eyes that can see external objects see themselves? And if the external is part and parcel of the internal, what we perceive or conceive is but a projection of our minds, and the universe and nature and the soul and mind and body, the transcendent and the immanent are the essentially one, how then are we, within the limited framework of our mind to understand this mighty scheme of things objectively? Science has begun to touch these problems and though they may elude it, still the earnest scientist of today is the prototype of the philosopher and the man of religion of earlier ages. 'In the materialistic age of ours,' says Professor Albert Eins in 'the serious scientific workers are the only profoundly religious people.'

विरोध नहीं करते। जिज्ञासा के स्तर की रहस्यपरक अभिव्यक्तियाँ तो किसी भी भाव-प्रवण ग्राहक को रसमग्न कर देती हैं। अन्त में शुक्लजी की इस धारणा से मैं सहमत हूँ कि काव्य की धारा एकमात्र रहस्यवाद नहीं है—वह उसकी एक प्रवृत्ति विशेष है। काव्य-निर्माण की प्रक्रिया चेतना के ज्ञान स्तर का अतिक्रमण कर सकती है—पर इसका यह अर्थ नहीं कि वह सदा आध्यात्मिक अनुभव की ही अभिव्यक्ति करती रहेगी—मन के अतल में निहित लौकिक अनुभूतियों का भी गाम्भीर्य और वैविध्य हो सकता है।

रहस्यवाद : स्वरूप तथा प्रकार

"गुह्यं ब्रह्म, तदिदं ब्रवीमि"

[ब्रह्म ही गुह्य या रहस्य है—उसी से सम्बद्ध 'वाद' या बात 'रहस्यवाद' है।]

'जिन जाना तिन जाना नाहीं' —उपनिषद्

रहस्यवाद शब्द हिन्दी साहित्य में 'mysticism' के अनूदित रूप में लगभग 1920 के आसपास प्रयुक्त हुआ। सम्भवतः यह अनदित रूप भी दर्शन की अपेक्षा काव्य के क्षेत्र में काव्यालोचकों द्वारा वस्तुपक्ष से सम्बद्ध अर्थ में पहले प्रचलित हुआ होगा। 1920 की **श्री शारदा** पत्रिका के विभिन्न अंकों में मुकुटधर पाण्डेय ने छायावाद पर कई लेख लिखे थे—उनमें से दूसरे लेख में उन्होंने कहा है—"यह (छायावाद) शब्द mysticism के लिए आया।" शुक्लजी ने भी छायावाद और रहस्यवाद को पर्याय रूप में कहा है, परन्तु इस शर्त के साथ कि उसका (छाया-वाद का) सम्बन्ध काव्य से हो, अर्थात् जहाँ कवि उस अज्ञात और अनन्त प्रियतम को आलम्बन बनाकर चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार की व्यंजनाएँ करता हो। उनकी दृष्टि में रहस्यवाद शब्द 'काव्यवस्तु' का सूचक है। शुक्लजी ने यह भी कहा है कि यह (छायावाद) काव्यगत रहस्यवाद के लिए गृहीत दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिबिम्बवाद का द्योतक शब्द है, जो सूफियों के यहाँ से होता हुआ यूरोप तक पहुँचा था और प्रतीकवाद से मिलकर बंगाल होता हुआ छाया-वाद के रूप में हिन्दी के क्षेत्र में उदित हुआ। हरिऔधजी ने अपने 'छायावाद' शीर्षक एक निबन्ध में तो इसी पर विचार किया है कि क्या छायावाद के पर्याय रूप में रहस्यवाद शब्द को गृहीत किया जा सकता है। अनेक तर्क-वितर्कों के अनन्तर उन्होंने कहा है कि अज्ञेय भावनाओं का प्रकाश छायावादी रचनाओं में देखा जाता है—अतः इसका प्राचीन नाम तो रहस्यवाद ही है, जिसे अंग्रेज़ी में mysticism कहते हैं। 1927 के लगभग महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भी छायावाद पर विचार करते हुए mysticism का रूपान्तर रहस्यवाद ही किया था। निष्कर्ष यह कि सन् 1920 से 1927 तक mysticism के अनूदित रूप में इसी (रहस्यवाद) शब्द का प्रयोग हो रहा था।

Mysticism के अनूदित रूप में 'रहस्यवाद' शब्द तो आया ही, पर एक विशेष सन्दर्भ में आने के कारण वह एक रूढ़ अर्थ भी ग्रहण करने लग गया

था। हिन्दी काव्यालोचन के क्षत्र में व्यक्त एवं सार्वजनीन मनोमय कोष तक की अनुभूति के विपक्ष में अव्यक्त अथवा वैयक्तिक अनुभूतियों पर रहस्यात्मकता का रंग चढ़ाकर काव्य में प्रयुक्त करने का महत्त्व और प्रामुख्य प्रदान करने-वाली विचारधारा 'रहस्यवाद' के रूप में समझी जाने लगी थी। यदि एक ओर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल काव्य के क्षेत्र से 'अध्यात्म' शब्द तक को बाहर कर देने का उद्घोष कर रहे थे, तो दूसरी ओर श्री जयशंकरप्रसाद काव्य की मुख्य धारा रहस्यवाद को ही मान रहे थे और उसे आत्मा की मूल संकल्पात्मक अनुभूति के रूप में विवेचित कर रहे थे। इस विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि इसमें 'वाद' शब्द एकांगिता, अतिरेक और आग्रह का भी भाव ध्वनित करता है! इस प्रकार जो विद्वान् यह मानते हैं कि हिन्दी काव्यालोचन के क्षेत्र में प्रयुक्त यह शब्द किसी अर्थ-विशेष में रूढ़ नहीं हो चला था, मैं उनसे भिन्न हूँ।

मराठी साहित्य में केशवसुत की 'झपूर्झा' तथा 'हरपलेंश्रेय' (क्रमशः 1893 ई. तथा 1905 ई.) जैसी गेय रचनाओं पर 1920 के आसपास विचार करते हुए (उनमें निहित रहस्यमयी भावनाओं को लक्षित करते हुए) प्रो. श्री. नी. बाफेकर ने mysticism के लिए 'गूढ़ गुंजन' शब्द का प्रयोग किया था। ऐसी रचनाओं के वस्तुपक्ष की रहस्यमयता को बोधित करने के लिए 'गूढ़' शब्द का तथा शैलीपक्ष की विशेषताओं और गेयात्मकता को ध्वनित करने के लिए 'गुंजन' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'गुंजन' शब्द में एक तो आत्मलीन गुंजन का भाव झलकता है, दूसरी ओर भावविह्वल मुखरता का अभिप्राय संकेतित है। इस प्रकार यह रूपान्तर शुद्ध काव्य-रचनागत विशेषताओं को संकेतित करने के लिए आविष्कृत हुआ है। श्री माधवत्र्यम्बक पटवर्द्धन ने इसके लिए 'सायुज्य-वाद' शब्द का प्रयोग किया है। आ. रा. देशपाण्डे ने ज्ञानेश्वरी के प्रयोग के आधार पर 'प्रतीतिबाद' शब्द का प्रयोग किया है। कुछ लोगों ने ऐसी रचनाओं के लिए 'शून्य-शोधन' शब्द भी चलाया था। वस्तुतः इस संज्ञा का आधार ज्ञानेश्वर का यह पद है—**"शून्य शोधिलें नाहीं जेणे। काय विवरण फेले तेणे।"**—इसमें कहा गया है कि जिसने शून्य का शोधन नहीं किया; वह विवरण क्या करेगा? अन्य आलोचकों ने एतदर्थ 'गूढ़वादी' रूपान्तर भी प्रस्तुत किया।

इसी प्रकार बंगला में mysticism का रूपान्तर 'मरमी का भाव' इस आधार पर किया गया है कि वहाँ के रवीन्द्रनाथ आदि काव्य के मर्मज्ञों ने 'mystic' का रूपान्तर मर्मी या मरमिया किया था। Ism प्रत्यय का अर्थ 'भाव' है, अतः mysticism का अर्थ 'मर्मी की असाधारण विशेषता' ही किया जा सकता है। इस प्रकार इस शब्द के विभिन्न रूपान्तर प्रस्तुत किये गये हैं।

यहाँ प्रसंगतः यह प्रश्न भी खड़ा होता है कि क्या मूल शब्द mysticism में भी यही भाव विद्यमान है? क्या mysticism का रूपान्तर 'रहस्यवाद' हो सकता है? व्युत्पत्ति और प्रयोग, दोनों ही दृष्टियों से इस पर विचार करना आवश्यक है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है

कि यह शब्द मूलत: myste's या muste's ग्रीक धातु से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ है जीवन-मरण के रहस्यों को जानने के लिए दीक्षित व्यक्ति अर्थात् जीवन की जन्म और मरण जैसी दो दीवारों के पीछे क्या रहस्य है, इसका बोध करने-वाला दीक्षित व्यक्ति (mystic)। इसी mystic शब्द से ism का योग होने पर mysticism शब्द का निर्माण हुआ है। Ism संज्ञा भी है, प्रत्यय भी। परन्तु यहाँ प्रत्यय के रूप में ही उसका प्रयोग है। यह प्रत्यय एक भाववाचक प्रत्यय है। इस प्रकार व्युत्पत्ति की दृष्टि से mysticism का शाब्दिक रूपान्तर रहस्यवाद नहीं, बल्कि रहस्यवादिता हो सकता है। व्याकरणिक दृष्टि से रहस्यवाद और रहस्यवादिता में कोई अन्तर नहीं है, परन्तु अर्थ की दृष्टि से यदि पहले में एक विचारधारा को प्रमुखता देनेवाले मत का भाव है तो दूसरे में रहस्यवादी व्यक्ति की प्रवृत्ति-विशेष का अर्थ झलकता है।

प्रयोग को ध्यान में रखकर व्युत्पत्तिमूलक अर्थ के अतिरिक्त पारिभाषिक अर्थों का भी निर्देश शब्द-कोशों में किया गया है। कोशग्रन्थों के अतिरिक्त दार्शनिकों ने भी अपनी विवेचनाओं में अपनी-अपनी आस्था के अनुरूप विविध स्वरूप स्पष्ट किये हैं। व्युत्पत्ति एवं शब्द-कोशों तथा दार्शनिकों की विवेचनाओं में दियें हुए प्रयोग पर आधारित अर्थों के बीच कोई विशेष उल्लेखनीय अन्तर नहीं दिखायी पड़ता। दोनों ही रहस्यवादी की असाधारण विशेषता के ही अर्थ में mysticism का प्रयोग करते हैं। इस विवेचन से यह सुस्पष्ट है कि हिन्दी काव्यालोचन के क्षेत्र में प्रयुक्त होकर यह शब्द जिस आग्रह, अतिरेक और एकांगिता का संकेत देता हुआ एक रूढ़ रूप प्रकट करता है, वह बात उसके मूल रूप mysticism में विद्यमान नहीं है। यह शब्द अपनी ऐतिहासिकता में ग्रीक के mystery cult से सम्बद्ध है। लैटिन चर्चों में mysticism से पहले contemplation शब्द का प्रयोग होता था। मध्य-युग तक यह शब्द वहाँ धारावाहिक रूप में mysticism शब्द उपलब्ध नहीं होता। सेंट आगस्टाइन, ग्रेगोरी तथा बर्नार्ड में प्रस्तुत शब्द के बदले contemplation शब्द मिलता है, जिसे आज 'रहस्यात्मक अनुभूति' (mystic experience) शब्दों से प्रस्तुत किया जाता है। इसीलिए mysticism को रहस्यवाद की अपेक्षा 'रहस्यानुभूति' शब्द से कहीं अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। यह शब्द एक ऐसी आध्यात्मिक प्रवृत्ति का सूचक है जिसे सार्वभौम कहा जा सकता है।

पश्चिमी विचारक भी यही मानते हैं कि एक रहस्यवादी परम सत्ता से तादात्म्य प्राप्त करता है। उसकी दृष्टि में जीवात्मा और जगत सभी उस विश्वात्मक और विश्वातीत सत्ता से एकरस रहते हैं। इन रहस्यवादियों के यहाँ वह परम-प्रेमास्पद मूल सत्ता निराकार और व्यापक नहीं; प्रत्युत साकार और व्यक्ति रूप भी है जिससे विविध प्रकार के वैयक्तिक सम्बन्ध भी वे अनुभूत करते रहते हैं। पश्चिमी जगत् में एक विशेषत: उल्लेखनीय बात है कि वहाँ धर्म (religion या पक्ष) के क्षेत्र में दिव्य सत्ता और मानव में एक सुस्पष्ट भेद की

रेखा स्वीकार की गयी है और स्वीकार ही नहीं की गयी है, वरन् उस पर बहुत बल दिया गया है। इस धार्मिक विश्वास के विरुद्ध आवाज़ उठानेवाले रहस्य-वादियों को फाँसी के तख्ते पर चढ़ा दिया गया है। वस्तुतः रहस्यवादिता इस धर्म की विभाजक सीमा से ऊपर उठी हुई वस्तु है। वह 'मैं' और 'तू' का भेद नहीं जानती; वह सादृश्य एवं साम्य को भी नहीं जानती। वह केवल एक का अस्तित्व मानती है; जहाँ समस्त भेद बिखरकर निश्शेष हो जाते हैं। इसीलिए रहस्यवादी सीमा के परे असीम की खोज में रहता है। संकुचित धर्म सीमाओं में भटकता है। रहस्यवादिता सीमाओं को तोड़ती हुई उसके ऊपर उठ जाती है। जहाँ केवल एक ही एक है; जहाँ 'यह' और 'वह' नहीं; 'तू' और 'मैं' नहीं; काल और देश अपनी समस्त खण्डित इकाइयों में जिसके बहुत पीछे छूट जाते हैं।

इन रहस्यवादियों की कतिपय और भी अनेक ऐसी भेदक विशेषताएँ हैं जिनके द्वारा इनकी रहस्यवादिता का स्वरूप और भी स्पष्ट हो सकता है। इन विशेषताओं में पहली बात यह है कि वे मानते हैं कि रहस्यानुभूति का होना व्यावहारिक बुद्धि से परे किसी अन्तःप्रज्ञा पर निर्भर है। इस अनुभूति के लिए जीवात्मा की प्रकृति का दिव्यीकरण भी आवश्यक है। जिस दिव्यात्मा का बोध रहस्यवादी को होता है उससे अपनी जीवात्मा की प्रकृति को एकाकार करना पड़ता है। उसकी सहज दिव्य प्रकृति पर छाये हुए मल का अपनयन आवश्यक होता है। इसी दिव्यीकरण या परिष्कार के द्वारा उस रहस्यमयी सत्ता की अनुभूति का एकमात्र सम्बल है प्रेम। प्रेम के अभाव में उस अनुभूति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह दूसरी बात है कि इन साधनों से निर्बाध अनुभूति-गोचर उस तत्त्व का एक वैचारिक पक्ष भी सम्भव है।

श्री परशुराम चतुर्वेदी ने निकट अतीत में प्रकाशित 'रहस्यवाद' नामक अपनी कृति में प्रायः पूर्वी और पश्चिमी चिन्तकों द्वारा प्रस्तुत की हुई रहस्यवाद की परिभाषाओं का अनेकधा विभाजन किया है। पहले तो आधार की दृष्टि से उनका त्रिधा विभाजन उपलब्ध होता है। पहला मनोवैज्ञानिक, दूसरा साधना-परक दृष्टि से परिचालित तथा आचार-दर्शन या जीवन-पद्धति पर आधारित। उनके अनुसार मनोवैज्ञानिक आधार पर भी की गयी परिभाषाओं में से किसी में चेतना पक्ष पर तो किसी संवेदन पक्ष पर, किसी में अनुभूति पर तो किसी में मनोवृत्ति-विशेष पर बल दिया है। तदनन्तर अन्य प्रकार की परिभाषाएँ भी प्रस्तुत की गयी हैं। अन्त में प्रायः इन सबकी एकांगिता प्रदर्शित करते हुए उन्होंने अपनी परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की है—"रहस्यवाद एक ऐसा जीवन-दर्शन है जिसका मूलाधार किसी व्यक्ति के लिए उसकी विश्वात्मक सत्ता की अनिर्दिष्ट या निर्विशेष एकता या परमात्म तत्त्व की प्रत्यक्ष एवं अनिर्वचनीय अनुभूति में निहित रहा करता है; और जिसके अनुसार किये जानेवाले उसके व्यवहार का

स्वरूप स्वभावत: विश्वजनीन एवं विकासोन्मुख ही हो सकता है।"[1] परन्तु इस परिभाषा की आलोचना करने से पूर्व हमें रहस्यवाद की भारतीय प्रकृति का भी साधार निरूपण देख लेना है, तभी किसी प्रामाणिक निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है।

भारतीय ढंग से विचार करने के लिए मैं यह आवश्यक मानता हूँ कि रहस्यवाद शब्द को mysticism के रूपान्तर के रूप में ग्रहण न किया जाये और स्वतन्त्र रूप में उस शब्द के भारतीय प्रयोगों के आधार पर एक सुनिश्चित अर्थ दिया जाये। भले ही प्राचीन वाङ्मय में रहस्यवाद शब्द का एक सम्मिलित रूप में प्रयोग अनुपलब्ध हो, पर जहाँ एक ओर 'रहस्य सम्प्रदाय' शब्द का प्रयोग मिलता है, वहाँ दूसरी ओर 'गुह्य मार्ग,' 'गुह्य तत्त्व' और 'उपनिषद्' जैसे प्रायः एक ही आशय की ओर इंगित करनेवाले शब्द मिलते हैं। यों 'रहस्य' और 'वाद' शब्दों का पृथक्-पृथक् प्रयोग तो उपलब्ध होता ही है।

भारतीय परम्परा में 'बाद' शब्द का प्रयोग दो तत्त्व-जिज्ञासुओं के बीच चलनेवाले उस तत्त्व पर्यवसायी विचार के लिए किया गया है जहाँ आग्रह, एकांगिता और अतिरेक की गुंजाइश नहीं है। कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन के क्षेत्र में अद्वैतवाद, द्वैतवाद आदि शब्दों के साथ जो वाद शब्द प्रयुक्त है, क्या उसमें अतिरेक, एकांगिता एवं आग्रह का भाव निहित नहीं है ? क्या उनमें एक-दूसरे के प्रति विरोध का भाव निहित नहीं है ? फलतः विरोध की भूमिका पर प्रतिष्ठित इन सिद्धान्तों के लिए प्रयुक्त 'वाद' शब्द क्या उक्त निर्धारित अर्थ में है ? और नहीं है तो 'वाद' शब्द पश्चिम की ही भाँति अतिरेक और आग्रह से गर्भित अर्थ ही में प्रयुक्त माना जायेगा।

इस प्रश्न या विरोधी स्वर का समाधान इस प्रकार समझना चाहिए। वस्तुतः भारत की तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो 'वाद' में तात्त्विक बोध के अनुरूप विचार पर बल है, किसी के 'विरोध' पर नहीं। 'व्यक्तवादी' भेदसर्जक बौद्धिक भूमिका पर स्थित रहते हैं। फलतः उनके यहाँ नानात्व बोध और तन्मूलक विरोध की सम्भावनाएँ सदा बनी रहती हैं—परन्तु अद्वयात्मक रहस्यमयी सत्ता का अनुभव करनेवाला 'अव्यक्तवादी' अपने को उस तात्त्विक भूमिका पर खड़ा देखता है, जहाँ से विरोध दिखायी नहीं पड़ता, जहाँ नानात्व है ही नहीं। एक ही एक है। फिर 'विरोध' किसका और किससे ? विरोध के लिए अनेक या द्वैत की अपेक्षा है; भारतीय अध्यात्म 'अद्वैती' है। कहा जा सकता है कि यहाँ के ऐसे अनेक अध्यात्मदर्शी हैं जिन्होंने 'द्वैत' की पारमार्थिक भूमिका स्वीकार की है। तो इस प्रश्न के समाधान में यह कहा जा सकता है कि अध्यात्मक्षेत्र के व्यक्ति दो कोटि के हैं। एक वे जो मुख्यतः अनुभवी और रहस्यदर्शी हैं और दूसरे जो दार्शनिक। पहले की वाणी में 'अद्वैत' की ही झलक होगी। उसकी वाणी

1. रहस्यवाद पृ० 25।

द्वारा व्यक्त अबुद्धि-बोध्य रहस्यमय तत्त्व की आपाततः प्रतीत पारस्परिक विरोधी विशेषताएँ स्थान-स्थान पर मिलेंगी, पर तह में 'एकात्मक' और 'अखण्ड' ही प्रतिष्ठित होगा। इस दृष्टि से भारतीय उपनिषदों से लेकर सन्तवानियों तक एक विहंगावलोकन कर लेने पर यही सिद्ध होगा कि सभी अखण्ड रहस्यमयी सत्ता को मानते हैं, चाहे वे औपनिषद ऋषि हों, चाहे सगुणोपासक भक्त हों, तान्त्रिक सिद्ध हों या निर्गुनिए सन्त। हाँ, उनकी उन अपवादमयी उक्तियों को छोड़ा जा सकता है जहाँ उनमें भी दार्शनिकता उमड़ गयी हो। दूसरी कोटि उन दार्शनिकों की है जो साधकों के संस्कार के अनुरूप रहस्यमयी सत्ता में एक विशेष कल्पित स्तर मान लेते हैं और साधक के चित्त को उसी पर स्थिर करने के लिए उसी को विभिन्न तर्क-प्रतितर्कों से प्रतिष्ठित करते हैं। इस प्रकार दार्शनिक अबुद्धि-बोध्य रहस्यमयी सत्ता को बुद्धि-बोध्य सीमा में द्वैत की भूमिका पर भी विवेचित कर देते हैं। निश्चय है कि जो बुद्धि-बोध्य सीमा में होगा, वह अखण्ड एवं रहस्यमयी सत्ता कल्पित या कामचलाऊ (साधना के लिए कुछ दूर तक गृहीत) रूप भले हो, उसकी विभिन्न भूमिकाएँ भले हों, पर वही अपनी समग्रता में न होगा। जो अपनी अबुद्धिबोध्यता में ही समग्र है, वह बुद्धि-बोध्य सीमा में पूर्णतः आ कैसे सकता है? **बुद्धे : परतस्तु सः'**—जो है। सबसे सीधी बात यह है कि बुद्धि-बोध्य सीमा में फिर 'रहस्य' कहाँ? फिर तो वह स्पष्ट है, व्यक्त है। इसीलिए जब दार्शनिक लोग 'वाद' शब्द का प्रयोग करते हैं तो अपनी साधना की उपयोगिता (—'मनन' में) वादी दृष्टि से अपनी ही स्थापना को 'वाद' (निराग्रह गृहीत सिद्धान्त) कहना चाहते हैं—पर निश्चय ही वहाँ एक पक्ष को प्रमुखता देने से इतर पक्षों का निराकरण होगा। अतः कहा जा सकता है कि भारतीय वाङ्मय में भी प्रयुक्त 'वाद' शब्द आग्रह, एकांगिता एवं अतिरेक को गर्भीकृत किये हुए है। वस्तुतः यहाँ दार्शनिकवादी भी अधिकारी के अनुरूप भूमिका प्रस्तुत करता है—अतः वह यह समझता है कि अमुक साधक की प्रकृति के अनुरूप कितना है और प्रतिरूप कितना है? प्रतिरूप उस विशेष साधक के लिए अग्राह्य है, अतः वह उसे उसके लिए हेय बताता है। लेकिन एक तो ये वाद शुद्ध आग्रह नहीं, बल्कि साधक के स्तर के अनुरूप उपयोगिता की दृष्टि से कल्पित हैं—दूसरे यहाँ यह समझना चाहिए कि प्रस्तुत प्रसंग में मैंने जिस 'रहस्यवाद' को ग्रहण किया है उसका सम्बन्ध दार्शनिकों की अपेक्षा हार्दभूमिका पर रहस्यमयी सत्ता का साक्षात्कार करनेवालों, अनुभवी सिद्धों एवं सन्तों से है, जो उसे उसकी अखण्डता में अनुभवैकवेद्य मानते हैं, जिसे वे वाणी का अगोचर कहते हैं, जिसके स्वरूप-परिचय के लिए वे नेति-नेति की पद्धति अपनाते हैं। इसीलिए तो कबीरदास कहते हैं—

सन्तो! धोखा, कासूँ कहिए।
जैस कहत तस होत नहीं जस है तैसा होइ।...

अर्थात् व्यावहारिक भूमिका पर शब्द मात्र विकल्पों के ही जनक हैं। अतः

विकल्पात्मक शब्दों की सहायता से यदि उस 'रहस्यमयी' सत्ता का निर्वचन किया जायेगा तो लोग धोखे में पड़ जायेंगे—वास्तव रूप को नहीं पहचान पायेंगे। कारण यह है कि कहने में कुछ दूर तक ही वह आ सकता है, और कुछ दूर तक भी आ सकता है या नहीं, यह कहना एकान्ततः कठिन है। इस प्रकार कहने के माध्यम से—शब्दों के माध्यम से—वह नहीं जाना जा सकता। वह जैसा है, वैसा ही है; उसके अतिरिक्त ही जब दूसरा नहीं है तो उसके समान दूसरा कहाँ हो सकता है ? गीता में अर्जुन ने कहा ही है—**न त्वत्समोऽप्यस्त्यधिकः कुतोऽन्यः ?** फिर किस दृष्टान्त से उसे समझाया जाय ? निष्कर्ष यह कि ऐसे एकमात्र अनुभूतिवेद्य अथवा '**जानतामविज्ञातं विज्ञानमविजानताम्**'—जैसे तत्त्व को समग्रतः कोई भी दार्शनिक शब्दात्मक परिभाषा में किस प्रकार बाँध सकता है ? और किसी भी बन्धन में, सीमा में वह आ गया तो असीम और मुक्त कैसे हुआ ? जबकि वह रहस्यमयी सत्ता असीम और मुक्त है। अतः 'रहस्य' का 'वदन' (तात्त्विक कथन-निराग्रह निरूपण) दर्शन की वादात्मक भूमिका (कल्पित एवं पाक्षिक) पर कभी सम्भव ही नहीं है। पर हार्दभूमिका, मौनास्वाद की भूमिका या अनुभव की भूमिका पर खड़े होकर दार्शनिकों के कथन को भी देखें तो उनमें भी अन्ततः कोई विरोध लक्षित नहीं होता। यह स्पष्ट जान पड़ेगा कि साधकों के संस्कार और साधना के अनुरूप कल्पित स्तरों के दृढ़ समर्थन में दार्शनिक तत्पर हैं अर्थात् स्वतः अखण्डभूमिका में मग्न रहकर जो भी देखें, जहाँ भी देखें, कहीं विरोध लक्षित होगा ही नहीं। इसलिए इस दृष्टि से 'रहस्य' का वदन या तात्त्विक कथन या 'रहस्य' के विषय में तात्त्विक विचारण— तो सम्भव ही है कि उसे भेदहीन भूमिका के अनुभूति मात्र संवेद्य तत्त्व के रूप में कुछ कहा जा सके। इस प्रकार अनुभूतिवेद्य की इसी खण्डहीन भूमिका पर यथासम्भव 'वाद' को 'रहस्यवाद' कहने में क्या अड़चन है ? इसके साथ यह भी समझ लेना आवश्यक है कि यह रहस्यवाद अनुभवी साधकों या सिद्धों के ही 'वदन' से सम्बद्ध है, दार्शनिकों की कल्पित खण्डभूमिका या बौद्धिक भूमिका से नहीं। कारण यह है कि पहले के 'वाद' में आग्रह का कोई सवाल ही नहीं, यों तत्त्वदर्शी को दूसरी भूमिकाओं में भी तत्त्वतः अविरोध ही लक्षित होगा। दूसरे, दार्शनिक के बौद्धिक निरूपण में अबुद्धि-बोध्यता या रहस्यमयता है भी कहाँ ? पर सिद्धों या पहुँचे हुए तत्त्वदर्शियों की बानी में रहस्य 'रहस्य' ही बना रहता है। हर दार्शनिक अपने अनुकूल वहाँ से कुछ न कुछ पा लेता है। कारण यह है कि उस अनिर्वचनीय का प्रकाशन परस्पर विरोधी जान पड़नेवाले समस्त रूपों से अनुभवी व्यक्ति उन्मत्त की भाँति करता जाता है। औपनिषद उद्गार पहुँचे हुए अनुभवियों के उद्गार हैं। अतः वहाँ सबके अनुरूप सामग्री मौजूद है, क्योंकि वहाँ रहस्यात्मक तत्त्व का यथासम्भव वदन या संकेत है। अन्ततः नेति-नेति की पद्धति द्वारा ही आत्मप्रकाशन है, निराग्रह निवेदन है। इसीलिए अनुभवियों की वाणी में जहाँ 'आश्चर्यवद् वदति' है आद्योपान्त एक बौद्धिक संगति ढूँढ़ निकालना असम्भव-सा

प्रतीत होता है। बुद्धि और वाणी एक 'सापेक्ष' सत्य को ही पूर्णतः कह सकती है, 'निरपेक्ष' सत्य का प्रकाशन इसकी शक्ति के बाहर है। तभी तो वह 'रहस्य' है और अनुभवी निराग्रह भूमिका पर जो कुछ कह-सुन लेता है, वही 'रहस्य का 'वाद' है।

यहाँ एक प्रश्न सहज ही खड़ा होता है कि क्या कोई निरपेक्ष सत्य-जैसी वस्तु भी है जिसे 'रहस्य' कहा जाता है, बुद्धि के परे माना जाता है, वाणी का अगोचर और अनुभूतिवेद्य कहा जाता है? ऐसे सहज समुद्भूत जिज्ञासा के समाधान में पहली बात तो यह स्पष्ट कह दी जाती है कि ऐसी जिज्ञासा का उत्पन्न हो जाना सहज है, पर उसका समाधान यदि बुद्धि ने दे दिया और जिज्ञासु की बुद्धि भी सन्तोषकर उत्तर पाकर सन्तुष्ट हो गयी, तो फिर वह तत्त्व बुद्धि-बोध्य हो जाने से 'रहस्य' नहीं रह जायेगा। इस स्थिति में 'रहस्यवाद' निरपेक्ष सत्य मानकर चलने की वस्तु है—अनुभवियों पर आस्था रखकर स्वीकार करने की वस्तु है–वह तर्कसाध्य हो नहीं सकती। उसे मान लेने के बाद भले ही पक्ष में शत-शत तर्क दे दिये जायें। उदाहरणार्थ, यही कहा जा सकता है कि समस्त विशेषों या अन्तिम विशेषों के मूल में व्याप्त रहनेवाला कोई-न-कोई सामान्य तत्त्व अवश्य होगा। वही समस्त विशेषों में अन्तर्व्याप्त रहनेवाला अन्तिम सामान्य तत्त्व ही निरपेक्ष सत्य है। इस सामान्य सत्य की सिद्धि में दार्शनिकों के ग्रन्थ के ग्रन्थ भरे पड़े हुए हैं। उस सामान्य सत्य को कौन किस भूमिका तक तर्क-सिद्ध कर सका है—यह दार्शनिक विवेचनों में देखा जा सकता है। इस दृष्टि से जब दर्शन अनुभव-सिद्ध निरपेक्ष सत्य की किसी भूमिका को तर्क सिद्ध करता है, तब वह भी 'रहस्य' का कथञ्चित् 'वाद' करता ही है। प्रस्तुत प्रसंग में 'रहस्य-वाद' शब्द काव्य और दर्शन के विवेचकों की अपेक्षा मूलतः अनुभवी सन्तों के अनुभूति मात्र वेद्य तत्त्व विषयक (आग्रह, अतिरेक एवं एकांगिता) वदन या मत के लिए प्रयुक्त किया जा रहा है।

'वाद' के साथ जहाँ तक 'रहस्य' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य एवं पारिभाषिक रूप विवेच्य है, कहा जा सकता है कि प्राचीन साहित्य में इसके पर्याय रूप में अनेक शब्द प्रचलित रहे हैं—गुह्य, गोप्य, उपनिषद् तथा रहस्य आदि। ऋग्वेद में 'रहसू' शब्द का प्रयोग अविवाहिता माता के लिए किया गया है। [2।39।1] यों सभी प्रामाणिक शब्दकोशों में यह बताया गया है कि 'रहस्य' शब्द से 'यत्' प्रत्यय का सम्बन्ध होने पर 'रहस्य' शब्द की निष्पत्ति हुई है, जिसका अर्थ है—जो एकान्त में हुआ हो, गोपनीय या निर्जनभव। व्युत्पत्ति को निमित्त मानकर ये सब अर्थ किये जाते हैं, परन्तु प्रयोग को देखकर यही कहा जा सकता है—जो कुछ बुद्धि-बोध्य न हो, वह 'रहस्य' है, उसे सन्तों के अनुभव के साक्ष्य पर मान लिया जाता है। क्षेमराज ने प्रत्यभिज्ञा हृदय में एक बहुत ही सुन्दर दृष्टान्त दिया है कि बुद्धि से उस तत्त्व को माप लेना उतना ही कठिन या असम्भव है जितना अपने ही पैर से अपने सिर की छाया। जितना ही पैर शिर की छाया

को नापने के लिए आगे बढ़ेगा, शिर की छाया उसी मात्रा में आगे बढ़ती जायेगी। इस प्रकार वह 'रहस्यमय' तत्त्व सदा-सर्वदा बुद्धि के लिए दुर्लंघ्य ही रहेगा। इस प्रकार 'रहस्य' केवल वह मूल 'तत्त्व' ही नहीं है, उसकी अनुभूति का विवरण भी 'रहस्य' है, उसकी प्राप्ति-प्रक्रिया भी 'रहस्य' है। इसीलिए उसकी अभिव्यक्ति भी लोगों को 'रहस्यमयी' जान पड़ने लगती है। निष्कर्ष यह कि 'रहस्य' के 'वाद' की परिधि में उस मूल तत्त्व, उसकी अनुभूति, अनुभूति तक पहुँचने की गुह्य प्रक्रियाएँ तथा अनुभूत का अभिव्यक्ति पक्ष, ये सभी विवेच्य हैं।

इसके पहले कि हम रहस्यवाद सम्बन्धी इन विभिन्न पक्षों पर विचार करें, इससे सम्बद्ध कुछ और सामान्य बातों पर विवेचन कर लें। इस सन्दर्भ में सबसे पहला प्रश्न यह है कि निम्न जातियों या आदिम मानव में कुछ और इस प्रकार की बातें मिलती हैं, जो सामान्यतः बौद्धिक-संगति नहीं दे पातीं या बुद्धि-बोध्य नहीं हो पातीं। मतलब यह कि 'रहस्य' को 'अबुद्धि-बोध्य' का सर्वथा पर्याय मान लिया जाय, या उसका कुछ संकोच-विस्तार निरूपित करना आवश्यक है। 'रहस्य' शब्द का प्रयोग व्यवहार में केवल उसी अर्थ के लिए नहीं होता जो 'अबुद्धि-बोध्य' है, बल्कि उसके लिए भी किया जाता है जो बुद्धि-बोध्य होने पर भी 'गोपनीय' है। कहा गया है कि **'द्वयर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्यवस्तु'** –, रहस्य वस्तु को द्वयर्थक पदों से सूचित करना चाहिए, ताकि उसकी गोपनीयता बनी रहे। कोई वस्तु ऐसी होती है जो स्वतः रहस्य (या अबुद्धि-बोध्य) होती है और कुछ वस्तुएँ ऐसी होती हैं जो रहस्य रखी जाती हैं, क्योंकि वे एकान्त की होती हैं; उनका सम्बन्ध 'रहसि भव' से हुआ करता है। उदाहरणार्थ, इसी प्रसंग के 'मूल तत्त्व' (परतत्त्व) को लें। वह स्वयं अबुद्धि-बोध्य होने के कारण 'रहस्य' है, पर उसको प्राप्त करने की प्रक्रिया और उपकरण बुद्धि-बोध्य होने पर भी 'रहस्य' या गोप्य माने जाते हैं। उनकी गोपनीयता ही सफलता का आधार माना जाता है। निष्कर्ष यह कि 'रहस्य' एक तरफ अबुद्धि-बोध्य के लिए तो आता ही है, दूसरी ओर 'बुद्धि-बोध्य' के लिए भी आता है। हाँ, यह अवश्य है कि उसका भी सम्बन्ध अन्ततः 'रहसि भव' और मूल अबुद्धि-बोध्य 'रहस्य' से ही है।

जिस प्रकार 'रहस्य' एक तरफ 'अबुद्धि-बोध्य' से 'बुद्धि-बोध्य' की ओर आत्मप्रसार करता है, उसी प्रकार दूसरी ओर 'अबुद्धि-बोध्य' के सीमा-संकोच द्वारा आत्मसंकोच भी करता है। उदाहरण के लिए जादू-टोना की बातों को ही लिया जाय – भूत-प्रेतों के आवेश की बातों को ध्यान में रखा जाय—निश्चय ही ये अबुद्धि-बोध्य हैं अन्यथा बुद्धि-बोध्य होने से वैज्ञानिक और इन पर अविश्वास रखनेवाले तार्किक भी इनको मान्यता देते ही। पर उन लोगों द्वारा इन सब बातों को महत्त्व न मिलना सूचित करता है कि ये अबुद्धि-बोध्य हैं। फिर भी 'रहस्यवाद' के 'रहस्य' की सीमा में या तो इन्हें लिया नहीं जाता, अथवा (शुक्लजी के अनुसार) निकृष्ट कोटि का रहस्य कहा जा सकता है। वैसे तो एक तरफ

मध्ययुगीन रोजर वेकन तक ने Magical sciences तक की चर्चा कर जादू को विज्ञान तक कह डाला है, जबकि दूसरी ओर एवलिन अण्डरहिल ने अपने mysticism में जादूविद्या और रहस्यवाद को तत्त्वतः भिन्न नहीं माना है। पर इससे न तो आज समस्त वैज्ञानिक जादू-मन्त्र में आस्था रखते हैं और न आध्यात्मिक रहस्यवादी सन्त इसे 'रहस्यवाद' ही कहते हैं। कुमारी अण्डरहिल ने एक जगह अध्यात्म यात्रा की चर्चा करते हुए way of magic एवं way of mysticism जैसा विभाग किया है, जो सूचित करता है कि इन दोनों में कितना भी साम्य हो, पर साधन या उद्देश्य की दृष्टि से महान् अन्तर है। निष्कर्ष यह कि जिस रहस्य का वाद यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है, उस रहस्य का मूल अर्थ विश्वव्याप्त किंवा विश्वातीत कोई अनुभूति मात्र वेद्य अखण्ड चेतना ही है, जो अबुद्धि-बोध्य है। उपनिषदों में भी कहा गया है—**गुह्यं ब्रह्म**, अर्थात् वह मूल चेतना ही गुह्य या रहस्य है। यह बात दूसरी है कि उससे कथञ्चित 'साधन के रूप में' सम्बद्ध बुद्धि-बोध्य वस्तुएँ भी औपचारिक रूप से अथवा एकान्त प्रयोज्य होने के कारण 'रहस्य' की परिधि में ले ली जाती हैं।

जहाँ तक धर्म और रहस्य का सम्बन्ध है, निश्चय ही पश्चिम का religion भारतीय 'धर्म' का पर्याय नहीं है। अंग्रेज़ी के religion शब्द से विभिन्नजातीय ईश्वरोपासना की प्रणाली का बोध होता है। इसीलिए वहाँ मानव और ईश्वर के बीच का विश्वास ही धर्म कहा-सुना जाता है। अतएव उस दृष्टि से मत-परिवर्तन या धर्म-परिवर्तन भी हुआ करता है, किन्तु भारतीय दृष्टि से जो धर्म के स्वरूप पर विचार किया गया है, वह कुल तीन दृष्टियों से दिखायी पड़ता है—तात्त्विक, पारलौकिक तथा ऐहिक या व्यावहारिक। तात्त्विक दृष्टि से धर्म वह वस्तु है, जिसके द्वारा प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूप को धारण किये रहती है, जिससे शून्य होकर प्रत्येक वस्तु अपने आपको धारण नहीं कर सकती। वस्तुतः इस दृष्टि से 'स्वभाव' ही धर्म है, अतः यहाँ 'अधिकार-भेद' की बात कही गयी है, इसीलिए वह अपरिवर्तनीय है। अग्नि का धर्म दाहकता या मनुष्य का धर्म मनुष्यता सर्वथा अपरिवर्तनीय तत्त्व हैं। इस प्रकार समस्त विश्व का धर्म वह तत्त्व है, जिससे विश्व आत्मरूप धारण किये हुए है। जिस प्रकार पिण्ड या शरीर का धारण पिण्डगत चेतना से है, उसी प्रकार विश्व या ब्रह्माण्ड का धारण विश्वगत चेतना से है, विश्वव्याप्त चैतन्य से है। यही विश्वव्याप्त चैतन्य विश्व का धर्म है। इसी की अनुभूति रहस्यानुभूति है। निष्कर्ष यह है कि तत्त्वतः धर्मानुभूति एवं रहस्यानुभूति में कोई अन्तर नहीं है, पर मूल धर्मात्मक तत्त्व के अनुभव साधनों के अर्थ में 'धर्म' शब्द उत्तरोत्तर अव्यापक एवं संकुचित होता गया। तब उससे रहस्य की एकरूपता पर अनेक प्रश्न उठाये जाने लगे। ऐसे ही अर्थों की ओर ऐहिक तथा पारलौकिक दृष्टियों से संकेत किया गया है। ऐहिक, सामाजिक या व्यावहारिक दृष्टि से उन तत्त्वों के सामान्य या विशेष रूपों को धर्म कहा गया है, जो समाज या विश्व का विधारण करते हैं। अपने सामान्य रूप में वह तत्त्व वैदिक ऋषियों द्वारा 'ऋत'

कहा गया है। धर्म के इस रूप पर पश्चिमी चिन्तकों ने भी प्रकाश डाला है। पारलौकिक दृष्टिकोण से अभ्युदय एवं निःश्रेयस के साधनों को धर्म कहा गया है। इस प्रकार यह धर्म अपने तात्त्विक रूप में अपरिवर्तनीय है, किन्तु व्यावहारिक या अन्य रूपों में परिवर्तनशील है।

रहस्यानुभूति में जिस प्रकार की किसी रहस्यमयी सत्ता में विश्वास करने और उसे प्राप्त करने की प्रवृत्ति निहित है, उसका उदय सुदूर पूर्व धार्मिक विश्वासों में ही दिखायी पड़ने लगता है। पाषाणयुग में ही इस भावना का उदय हो गया था। मनुष्य को सभ्य और संस्कृत दशाओं से पूर्व बर्बरावस्था में ही निहित शक्ति का सहज बोध हुआ था जो भूतवाद के रूप में दिखायी पड़ता है। मनुष्य अपने सभ्य और संस्कृत स्तरों पर इस प्रवृत्ति का अनुभूतिगत और विचारगत परिष्कार करता गया, फलतः रहस्यवाद ने उत्कृष्टतम अनुभूत स्वरूप और वैचारिक स्वरूप उपलब्ध किया। अद्वैतवाद और सर्ववाद ऐसी उत्कृष्ट रहस्यानुभूति की वैचारिक परिणति है।

प्रश्न यह खड़ा होता है कि क्या समस्त अव्याख्येय अनुभूतियाँ एक विशेष प्रकार की धार्मिक साधना की परिधि में ही सीमित हैं? क्या समस्त अव्याख्येय रहस्यमयी अनुभूतियाँ धार्मिक साधना का ही परिणाम कही जा सकती हैं? उदाहरण के लिए, शेली (Shelley) की रचनाओं में जो लोकोत्तर आह्लाद की अभिव्यंजना हुई है, वह उसकी धार्मिक साधना का यथार्थ परिणाम है या आकस्मिक अथवा कल्पित? डॉ. रामविलास शर्मा ने बातचीत के सिलसिले में एक बार यह कहा था कि शेली यथार्थ पर आस्था रखनेवाला कवि है—वह झूठी बात नहीं कह सकता। पर आह्लादमयी जिस अवस्था का उसने वर्णन किया है, उसकी सामान्यतः स्थूल भौतिक भूमिका पर व्याख्या दुरूह है। तथापि उन्होंने यह कहा था कि इसकी रहस्यनिरपेक्ष व्याख्या की जा सकती है और भविष्य में वे करेंगे भी। लेकिन इस सन्दर्भ में व्याख्या से अधिक मूल्यवान् वस्तु है अनुभवमूलक व्याख्या। यदि उसका वह व्यक्त आह्लाद सामान्य वैषयिक आह्लाद से भिन्न स्तर का है—वासना की रसात्मक परिणति से भिन्न प्रकार है—तो उसकी प्रकृति और उसके उत्पादक कारण पर भी विचार करना होगा और बताना होगा कि यह आह्लाद अहेतुक और आकस्मिक कौंध के रूप में प्रतीत हुआ आह्लाद है या विशेष प्रक्रियावश? विज्ञान के इस युग में हर अनुभूत वस्तु की बुद्धिगम्य व्याख्या करने का प्रयास किया जा रहा है, चाहे वह स्वानुभूत हो अथवा परानुभूत। इस प्रवृत्ति का परिणाम है कि रहस्यानुभूति की भी मनोवैज्ञानिक भूमि पर अनेक व्याख्याओं को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस प्रकार के प्रयासों से अब तक की जिन अव्याख्येय अनुभूतियों की व्याख्या सन्तोषकर हो जायेगी, तब तो उसे निश्चित ही 'बुद्धि-बोध्य' की सीमा में डाल दिया जायेगा और उसकी रहस्यमयता अनावृत हो जायेगी। पर यह सब भविष्य की बात है और 'यदि' गर्भित है, फलतः विवादास्पद है। अस्तु, कुछ और भी

इस प्रकार की रहस्यमयी अनुभूतियों का उल्लेख विश्व के विशिष्ट व्यक्तियों ने किया है, जो सहसा हुई हैं, जिनके पीछे कोई धार्मिक साधना नहीं रही है। इस प्रसंग में हमें उनकी भी चर्चा करनी है और यह देखना है कि क्या रहस्यवाद या अबुद्धि-बोध्य समस्त चर्चाएँ अपनी पृष्ठभूमि में धार्मिक-साधना-सापेक्ष ही हैं ? म. म. गोपीनाथ कविराज ने इस प्रकार के अनेक व्यक्तियों से बात की है और समझा है कि उन्हें सहसा कोई रहस्यमय अनुभव हुआ है। अध्ययन-अध्यापन के सिलसिले में वे बातें हम लोगों को भी सुनायी हैं। उन्होंने कहा है कि वाराणसी का ही एक व्यक्ति था जिसे विश्वेश्वर गंज किसी कार्य से जाना पड़ा था। वहाँ पहुँचने पर वह देखता क्या है कि विश्वेश्वर गंज की जगह कोई ऐसा प्रदेश दिखायी पड़ा—जो खेतों से भरा हुआ ग्राम्य प्रदेश-सा लगा। खेतों के बीच से जाती हुई एक पगडण्डी भी उसे मिली। उसी पगडण्डी से होता हुआ जब वह आगे बढ़ा तो उसने देखा कि कोई महात्मा बैठा हुआ है जिसने उस व्यक्ति को अनेक बातें बतायीं। इस प्रकार फिर उसकी यह यात्रा जब समाप्त हुई तो आगे पुनः वही विश्वेश्वर गंज का स्थान दिखायी पड़ा। इसी प्रकार कविराज ने अन्य भी ऐसे प्रसंग अनेक सुनाये हैं, जिनमें सहसा इस प्रकार के लोगों की रहस्यानुभूति का प्रसंग आया है। एक व्यक्ति को सहसा यह अनुभव हुआ कि उसे समस्त व्यवधानों को आत्मसात् करता हुआ एक अखण्ड विश्वव्याप्त चेतना का अनुभव खुले निःसीम आकाश का-सा हुआ। इसी प्रकार परशुराम चतुर्वेदी ने भी अपने **रहस्यवाद** में ऐसे अनेक आकस्मिक रहस्यानुभवों का उल्लेख किया है,[1] जिनकी पृष्ठभूमि में कोई धार्मिक साधना नहीं है। इस विस्तृत चर्चा से क्या यह निष्कर्ष निकाला जाये कि अनेक अबुद्धि-बोध्य अनुभूतियाँ बिना किसी धार्मिक साधना के भी सहसा या अनायास कभी-कभी किसी को हो जाया करती हैं या यह निष्कर्ष निकाला जाये कि इस तरह के अनुभव दिवास्वप्न हैं और किसी मानसिक विकृति[2] के परिणाम हैं ? फलतः किसी भी पूर्वाग्रह साम्प्रदायिक या धार्मिक धारणा से निरपेक्षहोकर मनौवैज्ञानिक दृष्टि से इनके विश्लेषण का प्रयास करना चाहिए ? निश्चय ही ऐसे प्रश्नों का उत्तर बिना किसी अनुभवाधारित मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के ही देने का यदि मैं प्रयास करता हूँ, तो वह एक पूर्वाग्रह या साम्प्रदायिक धारणा का ही प्रतिफल होगा। इसी प्रकार आज ऐसे 'जातिस्मर' (पूर्व जन्मों की स्मृति रखनेवाले) मिलते हैं, जिनके वक्तव्यों की अभी तक बुद्धि-बोध्य व्याख्या नहीं हो सकी है या जो कुछ अदृष्टाश्रित साम्प्रदायिक व्याख्या है—धार्मिक विश्लेषण है—वह सर्वस्वीकृत और विश्वसनीय नहीं हुई है। निष्कर्ष यह कि रहस्यमयी अनुभूति का साधना-लक्ष्य अबुद्धि-बोध्य पक्ष तो रहस्यवादियों

1. रहस्यवाद।
2. "रहस्यवादी अनुभव मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विकृत व्यक्तियों की विकृत ईप्साओं के प्रक्षेप हैं"—जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृ. 32।

की, साम्प्रदायिक साधकों की, अपनी उक्तियों के आधार पर तो उपलब्ध हैं ही, पर इस प्रकार के आकस्मिक-अनुभूत-रहस्यमय पक्ष सद्यः दृष्ट-धार्मिक-साधना से निरपेक्ष भी देखे-सुने जाते हैं। इस प्रकार रहस्यवादी प्रवृत्ति को धर्म से अविच्छेद्य अनुभूति तो माना ही जा सकता है—अद्यावधि प्रचलित साधनाओं और साम्प्रदायिक विधियों से स्वतन्त्र रूप में भी उसका अस्तित्व या संकेत माना जा सकता है। तभी तो उसे भी सार्वभौम और सम्प्रदाय से अपरिच्छिन्न कहकर उसकी निःसीमता भी सिद्ध की जा सकती है।

इस प्रकार अद्यावधिक विभिन्न धार्मिक या साम्प्रदायिक विधियों के फल-स्वरूप साधनाक्रम से उपलब्ध या पूर्वतः अनालोचित प्रक्रिया से सहसा झलक पड़नेवाली रहस्यवादी अनुभूतियों का अस्तित्व अनुभवियों की शक्ति पर ही आधारित माना जा सकता है। यह भी सम्भव है कि बहुत-सी अबुद्धि-बोध्य अनुभूतियाँ कल्पित और कृत्रिम हों—मानसिक विकृति की परिणति हों—इस-लिए यहाँ रहस्यवाद के उन्हीं पक्षों पर विचार किया जायेगा—जो परम्परा-प्रसिद्ध अनुभवी सन्तों की उक्तियों पर आधारित होगा। अनुभवी सन्तों की उक्तियों पर आधारित रहस्यवाद के विभिन्न पक्षों को ऊपर चार भागों में विभक्त करके कह ही दिया गया है, जो इस प्रकार है—(1) अनुभूत रहस्यमय तत्त्व, (2) उस तत्त्व की रहस्यात्मक अनुभूति का ब्यौरा, (3) उस तत्त्व की रहस्या-त्मक अनुभूतियों को अपरोक्ष करने की प्रक्रिया, तथा (4) उनकी अटपटी अभिव्यक्ति। इसके साथ-साथ यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि मुख्यतः 'रहस्य' वही है, जो 'अबुद्धि-बोध्य' है, जिसे हम अनुभवी सन्तों की उक्तियों के आधार पर अनूदित मात्र कर सकते हैं। इसीलिए जहाँ एक तरफ हम इस भाँति से पाठकों को बताना चाहेंगे कि जो कुछ 'अबुद्धि-बोध्य' है वह सब 'रहस्यानुभूति' के प्रकृत विवेच्य रूप का पर्याय नहीं है, क्योंकि बहुत-सी निराधार, कल्पित एवं कृत्रिम बातें भी अबुद्धि-बोध्य हो सकती हैं, वहीं दूसरी तरफ अप्रमुख रूप से 'अबुद्धि-बोध्य' से सम्बद्ध होने के कारण 'बुद्धि-बोध्य' बातों को भी रहस्यवाद की सीमा में विवेचनीय बताना चाहेंगे।

मैं इस बात पर बराबर जोर देता आ रहा हूँ कि इस कृति में 'रहस्यवाद' शब्द का प्रयोग mysticism के अनूदित रूप में नहीं किया जा रहा है, बल्कि वह एक स्वतन्त्र शब्द के रूप में प्रयुक्त है। इस कृति की संज्ञा इसलिए 'रहस्यवाद' है कि इसमें 'रहस्य'-विषयक यथासम्भव 'वाद' या विचार है। इस 'वाद' या विचार का आधार रहस्यदर्शी सन्तों या अनुभवी लोगों की वाणी है। रहस्यवाद को mysticism के रूपान्तर के रूप में न ग्रहण करने के भी कतिपय कारण हैं। उसमें से एक तो यह है कि यह रूपान्तर ही भ्रान्तिमूलक एवं भ्रान्तिकारी है। मूलतः यह mysticism रहस्यानुभवी सन्तों का एक भाव है। Mystic जिस कारण से mystic है, वह मूल भाव है। 'रहस्यवाद' शब्द इस मूल अर्थ का संकेत न देकर 'रहस्य'-विषयक वाद या विचार का संकेत देता है और काव्यालोचन के सन्दर्भ

में तो एकांगिता, अतिरेक एवं आग्रह-गर्भित विचारधारा का बोधक हो जाता है।

'रहस्यमयी' अनुभूति के विषय में यहाँ जो कुछ भी विचार प्रस्तुत किया जायेगा वह अपने विवेच्य की परिधि में काव्य को भी लेने जा रहा है। इसलिए यहाँ यह भी विचारणीय है कि 'काव्य' और 'रहस्य' का भी कोई सम्बन्ध है क्या? क्या कोई ऐसी स्थिति भी है जहाँ 'कवि' और 'रहस्यानुभवी' एक स्तर पर आ सकते हैं? आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विचार है कि काव्य मनोमय कोश को ही अपनी अन्तिम सीमा मानता है—कवि की प्रतिभा मानस-जगत को ही आलोकित कर अनुरूप काव्य-सामग्री का ग्रहण करती है और ऐसा करते समय वह निर्वैयक्तिक रहती है। इसीलिए वे 'अतिमानस' को, 'अध्यात्म' को काव्य के क्षेत्र के बाहर की वस्तु मानते हैं। शुक्लजी यह भी मानते हैं, कि मानस-सागर में जो रूप-तरंगें उठती हैं, वे इसी इन्द्रियगोचर संसार में अपना मूल उत्स रखती हैं। दूसरी ओर भाववादी काव्यचिन्तक हैं जो कवि में एक Intutive power, लोकोत्तर प्रतिभान शक्ति, संकल्पात्मक अनुभूति का अस्तित्व स्वीकार करते हैं—और इसमें वह ज्योति या समता स्वीकार करते हैं जो अतिमानस का साक्षात्कार करती है, इसीलिए सामान्य लोगों के लिए उसके प्रातिभ-उद्‌गार रहस्यमय हो जाते हैं—इसीलिए भाववादी Romantic कवियों में इस प्रकार की रहस्यमयी प्रवृत्तियाँ दिखायी पड़ती हैं। शेली और ब्लेक की कविताओं में व्यक्त लोकोत्तर आह्लाद एवं रहस्यमयी भावनाओं से कौन अपरिचित है?

यहाँ कई प्रश्न खड़े होते हैं—पहला तो यह कि क्या 'कवि' और 'रहस्यदर्शी' पर्याय हैं? अर्थात् क्या काव्य की मुख्य धारा 'रहस्यवाद' ही है? 'प्रसाद' के शब्दों में 'काव्य आतमा की संकलपात्मक अनुभूति है और वही काव्य की मुख्य धारा है' —क्या यह पक्ष पूर्णतः स्वीकार्य है? 'कवि' और 'रहस्यदर्शी' चाहे कभी एक बिन्दु पर मिलते हों या सतत—मिलन की आन्तरालिक प्रक्रिया क्या है? अर्थात् दोनों के मिलन-बिन्दु तक पहुँचने का साधन और प्रक्रिया भिन्न हैं या अभिन्न? यदि भिन्न है तो क्या-क्या है? और भेद होने पर भी दोनों एक ही जगह क्यों पहुँचते हैं? जैसे रहस्यदर्शी इच्छानुसार अपने ज्ञात प्रयत्न या साधना से वहाँ पहुँच जाता है, क्या कवि भी इच्छानुसार वहाँ पहुँच सकता है?...आदि-आदि जाने कितने ऐसे प्रश्न हैं—जो ऐसे अवसर पर आ उपस्थित होते हैं।

जहाँ तक यह प्रश्न है कि कवि और रहस्यदर्शी पर्याय हैं—निस्सन्देह 'नहीं' में इसका उत्तर दिया जा सकता है और प्रमाण में 'काव्य' को प्रस्तुत किया जा सकता है। साथ ही कहा जा सकता है कि काव्य का अधिकांश भाग ऐसा है—जहाँ कोई रहस्यमयता नहीं है। कवि को 'असामान्यदर्शी' अवश्य कहा जाता है, पर सर्वथा 'रहस्यदर्शी' नहीं। यद्यपि कुछ लोग तो कवि की 'असामान्यदर्शिता' से भी असहमत हो सकते हैं। पर इसके पक्ष में इतना ही कहना पर्याप्त है कि यदि 'सामान्य' से कुछ 'विशेष' काव्य में न होता—तो संसार के 'सामान्य' रूपों से हटकर काव्य के 'असामान्य रूप' की ओर पाठक कुछ क्षण क्यों आकृष्ट होकर

रमना चाहता ? इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकालना कथमपि युक्तिसंगत न होगा कि 'असामान्य' और 'रहस्य' पर्याय हैं—अतः 'असामान्यदर्शी' कवि 'रहस्यदर्शी' हो सकता है यह भी अनिवार्य नहीं—कारण, 'असामान्य' का अर्थ केवल काव्योचित 'सौन्दर्य' से है, 'विशेष' से है, अबुद्धि-बोध्य 'रहस्य' से नहीं।

अब, दूसरा प्रश्न यह किया गया है 'कवि' और 'रहस्यदर्शी'—न हों सर्वथा एक – पर जब भी 'कवि' रहस्यदर्शी की भूमिका पर आरूढ़ होता है—तब इस आरोहण की आन्तरालिक प्रक्रिया क्या है ? मैं जहाँ तक समझता हूँ—वही Intuitive Power की सक्रियता। यह शक्ति अज्ञातरूप से सहसा उच्छलित होती है—प्रतिभान शक्ति सहसा कौंध जाती है और कवि 'अतिमानस' की विभूति का साक्षात्कार कर लेता है—जिसे वह कभी-कभी अपने शब्दों में प्रस्तुत करता है। यहाँ भी एक प्रश्न यह किया जा सकता है कि 'Intuitive Power' जैसी कोई वस्तु भी है—क्या जिसकी भाववादी (Romantic) समीक्षक चर्चा किया करते हैं ? इसका उत्तर तो काव्य के वे असामान्य एवं रहस्यमय अंश ही हो सकते हैं—जो सामान्य प्रतिभा से सम्भव नहीं हैं। इसके भी विपक्ष में कहा जा सकता है कि वे अंश निरर्थक हैं और जानबूझकर अपनाये गये हैं—इस कुतर्क का समुचित उत्तर तो वही समर्थ सहृदय या समीक्षक दे सकता है जो उस काव्य के माध्यम से कवि की मूल काव्यचेतना या प्रतिभा का साक्षात्कार कर लेता है। साहित्य अनुभूति जगत की वस्तु है – शुद्ध तर्क-वितर्क से एक निर्णय लेना यहाँ कठिन ही है। 'कवि' एवं 'रहस्यदर्शी' में—इसीलिए एक साम्य की आधार भूमि यह भी है कि दोनों अनुभूति जगत् के प्राणी हैं। इसीलिए कभी रहस्यदर्शी कवित्व की भूमिका पर और कभी कवि रहस्यदर्शी की भूमिका पर आ जाता है—कभी कवि रहस्यदर्शी हो जाता है और कभी रहस्यदर्शी कवि।

इस विवेचन के आलोक में मैं उस अतिवादी छोर के भी विपक्ष में हूँ—जो यह मानता है कि काव्य एकमात्र रहस्यमयी अनुभूतियों की ही अभिव्यक्ति का क्षेत्र है। आचार्य शुक्ल भी यह मानते हैं कि रहस्यमयता यदि काव्य की एक प्रवृत्ति-विशेष बनकर रहना चाहती है—तो उन्हें कोई अड़चन नहीं, पर शुक्लजी काव्य की प्रकृत भूमि में रहस्यमयता के जिस पक्ष को ग्राह्य मानते हैं—वह है स्वाभाविक जिज्ञासा प्रसूत रहस्यमयता—जो प्रायः आँखों को सीमित करनेवाले क्षितिज, जीवन के ओर-छोर जैसी जन्म-मरण की दीवालों, गगन में अनन्तानन्त बिखरी हुई तारिकाओं को देखकर उत्पन्न होती है। कवि में Intuitive Power की सत्ता माननेवाले इससे अगले स्तर की रहस्यमयता को भी काव्य में ग्राह्य एवं सम्भव मानते हैं।

विवेच्य 'रहस्यवाद' के इन पक्षों पर विचार कर लेने के पश्चात् सम्प्रति, यह देखना है कि इसके कतिपय अवान्तर स्वरूप-भेद भी सम्भव है या नहीं ? 'रहस्यवाद' का वर्गीकरण या प्रकारनिरूपण विभिन्न आधारों पर किया गया है। कतिपय विवेचकों ने दिशा-भेद के आधार पर पूर्वी रहस्यवाद एवं पश्चिमी

रहस्यवाद-जैसा भेद किया है तो कुछेक गवेषकों ने धर्मभेद के आधार पर क्रिश्चियन, सूफी, हिन्दू, बौद्ध आदि प्रभेद स्वीकृत किये हैं।

'रहस्य' शब्द अपने मुख्यरूप में अबुद्धि-बोध्य 'मूलतत्त्व' के लिए प्रयुक्त माना गया है, पर लाक्षणिक रूप में उसकी प्राप्ति के गोपनीय 'साधनों' तथा तज्जन्य आन्तरालिक 'अनुभूतियों' के लिए भी स्वीकृत हुआ है। रूडाल्फ ऑटो प्रभृति कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने 'मूलतत्त्व' की दृष्टि से भी 'रहस्य' को 'पूर्वी' और 'पश्चिमी'—दो वर्गों में विभक्त किया है—पर इस दृष्टि से वर्गीकरण सम्भव नहीं है। कारण यह है कि वह मूलतत्त्व अपनी चरम प्रकृति में 'निर्विशेष' है और वर्गीकरण 'विशेष' के ही आधार पर हुआ करता है। फलतः प्रत्येक देश और काल का रहस्यवाद 'मूलतत्त्व' की दृष्टि से अविभाज्य ही रहा है और इस रूप में उसकी सार्वभौम एकरूपता ही स्वीकार की जानी चाहिए। अपने लाक्षणिक रूप में अर्थात् 'साधन' एवं 'आन्तरालिक—रहस्यमयी अनुभूतियों'— के अर्थ में अवश्य ही रहस्यवाद के विविध रूय बताये जा सकते हैं। सामान्यतः यहूदियों से क्रिश्चियन की और क्रिश्चियन से हिन्दुओं की साधन प्रणालियाँ भिन्न-भिन्न ही होंगी। इसी प्रकार इन सबसे बौद्धों एवं सूफियों की साधन प्रक्रियाएँ भी भिन्न-भिन्न हैं। काल की दृष्टि से भी देखें तो प्राचीन (औपनिषद आदि) रहस्यवाद से मध्यकालीन (सन्तों के) रहस्यवाद की भी कुछ आन्तरालिक विशेषताएँ लक्षित होंगी। प्रत्येक देश के रहस्यवादी वाङ्मय में साधन और तज्जन्य अनुभूतियों का हवाला मिलेगा — भले ही उनका रूप भिन्न-भिन्न हो। इस आधार पर रहस्यवाद के दो रूप —साधनात्मक एवं अनुभवात्मक— सर्वत्र मिलेंगे। इन दो रूपों के अतिरिक्त एक वह रूप भी है—जिसमें अज्ञात के प्रति स्वाभाविक कौतूहल और जिज्ञासा का भाव व्यक्त होता रहता है। फ्रेजर आदि अन्य मनीषियों ने सभ्यता के विकास के आधार पर भी 'रहस्यवाद' के विभिन्न आकार निर्दिष्ट किये हैं। उन लोगों का कहना है कि सभ्यता के विकास तीन अवस्थाओं से गुज़र रहे हैं—जादू, धर्म एवं विज्ञान। प्रत्येक स्तर पर रहस्यवाद की व्याख्या बदलती रहती है। इन लोगों के अनुसार अपने आरम्भिक रूप में रहस्यवाद का प्रयोग [समाज विज्ञान या नृविज्ञान में] जादू-टोने आदि के अध्येताओं की दृष्टि से सामूहिक भय-विश्वास के अर्थ में हुआ करता था। धर्म और धर्मविज्ञान के दूसरे स्तर पर इस शब्द का प्रयोग उस अर्थ में जिसका दर्शन हमें सन्तकाव्यों में मिलता है। तीसरे स्तर पर विज्ञान के क्षेत्र में विशेषतः मनोविज्ञान और उच्च भौतिक विज्ञान तथा गणित विज्ञान के अन्तर्गत सापेक्षवाद अथवा क़ान्तुम आदि की चर्चा में भी आज 'रहस्य' शब्द का प्रयोग किया जाता है। उक्त तीन स्तरों में से प्रथम स्तर में मानव अपनी शक्ति को असीम समझता है और प्रकृति पर नियन्त्रण करना चाहता है। द्वितीय स्तर पर उसे अपनी शक्ति में विश्वास नहीं रह जाता और प्रकृति को या उसकी तह में विद्यमान किसी अदृश्य शक्ति पर आश्रित होने लगता है—यहाँ तक कि आत्मसमर्पण की भूमिका तक पहुँच जाता है। इन लोगों के अनुसार तृतीय स्तर वह है

जहाँ पुनः मानव विज्ञान के सहारे प्रकृति पर अधिकार करने लगता है।

परन्तु जहाँ तक सच्चे रहस्यदर्शियों का सम्बन्ध है—वे 'रहस्य' शब्द का प्रयोग इन विभिन्न भूमिकाओं पर स्वीकार नहीं करते। उनका तो विश्वास है कि संसार और उसकी प्रगति का परिवर्तनशील स्वरूप चाहे जितने स्तरों पर बनता-बिगड़ता रहे—पर उसकी तह में निहित रहकर उसको परिचालित करनेवाली चैतन्यशक्ति सदा एकरस रहती है और चैतन्यशक्ति अपनी समग्रता में मनुष्य की बुद्धि-बोधि से सर्वथा परे की वस्तु है। यही चैतन्यशक्ति 'रहस्य' तत्त्व है। जादू विज्ञान के रहस्य से इस रहस्य की प्रकृति सर्वथा भिन्न है। ऊपर अण्डरहिल आदि के विचारों के आलोक में यह दिखाया ही जा चुका है कि जादू-टोना और रहस्यवाद में पर्याप्त अन्तर है। निष्कर्ष यह कि सच्चे रहस्य-दर्शी इस विचार से सहमत नहीं हैं कि 'रहस्य' की व्याख्या सभ्यता-विकास के स्तर-भेद से विविध रूप की की जा सकती है।

निष्कर्ष

(i) प्रस्तुत कृति में 'रहस्यवाद' शब्द को mysticism का रूपान्तर नहीं, प्रत्युत स्वतन्त्र शब्द माना गया है। इसमें 'रहस्य' और 'वाद'—दो स्वतन्त्र शब्दों का योग स्वीकार किया गया है।

(ii) 'रहस्य' शब्द का मुख्य अर्थ उस 'चरमचिन्मय तत्त्व' को माना गया है—जो रहस्यदर्शियों के अनुसार 'बुद्धेस्तु परतः'—बुद्धि से परे है—अबुद्धि-बोध्य है। यहीं यह भी समझना चाहिए कि जो कुछ अबुद्धि-बोध्य है—वह सभी 'रहस्य' की सीमा में नहीं है और न तो इस कृति में वैसा समझा ही गया है।

(iii) रहस्यदर्शियों के कथन के आधार पर लाक्षणिक रूप में 'रहस्य' उन तत्त्वदर्शनोपयोगी साधनों के अर्थ में भी स्वीकार किया गया है—जिसे 'बुद्धि-बोध्य' होते हुए भी 'गोपनीय' माना गया है। ये साधन और प्रक्रियाएँ 'रहसिभव' हैं—अतः 'रहस्य' कही गयी हैं।

(iv) 'मूलतत्त्व' और उसकी 'प्राप्ति-प्रक्रिया' को ही नहीं, प्रत्युत अध्यात्म-मात्रा के कतिपय 'आन्तरालिक अनुभवों' को भी 'रहस्य' माना गया है। रहस्य-दर्शियों की कृतियों में अनेक आध्यात्मिक ठहरावों का उल्लेख मिलता है—जो सर्वसामान्य के लिए रहस्य हैं।

(v) इस प्रकार 'रहस्य' वही नहीं है जो स्वभावतः रहस्य(अबुद्धि-बोध्य)है, बल्कि रहस्य वह भी है जो स्पष्ट होने पर भी गोपनीय रखा जाता है।

(vi) 'वाद' शब्द का प्रयोग निराग्रह, निर्भ्रान्ति, पूर्णतोन्मुखी एवं तात्त्विक कथन के अर्थ में किया गया है—जिसके मूल में अखण्डानुभूति और तत्त्वदर्शन निहित है। भारतीय परम्परा में यह शब्द यद्यपि तत्त्वोन्मुखी विचार-प्रणाली के लिए रूढ़ है, परन्तु इस सन्दर्भ में उसे केवल अनुभव-प्रकाशक कथन के रूप में ही लिया गया है। यह अनुभव-प्रकाशन विचारोन्मुखी भी हो सकता है और

भावोन्मुखी भी। इसके साथ-साथ यह भी ध्यान रखने की बात है कि यह कथन या वाद अपनी शक्ति में सीमित है—अतः 'असीम' का प्रकाशन एक सीमा तक ही कर सकता है अर्थात् शब्दात्मकवाद 'रहस्य' का संकेत भर दे सकता है, पूर्ण प्रकाशन नहीं कर सकता।

इस प्रकार इन बातों को ध्यान में रखकर 'रहस्यवाद' की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है—"रहस्यवाद रहस्यदर्शियों का वह सांकेतिक कथन या वाद है—जिसके मूल में अखण्डानुभूति और तत्त्वानुभूति निहित है।" इस प्रकार रहस्यदर्शियों के इस वदन या वाद का विषय 'मूलतत्त्व' भी हो सकता है और तत्त्वोपलब्धि की 'प्रक्रिया' भी। इसके साथ-साथ अन्यान्य आन्तरालिक रहस्यमयी आध्यात्मिक अनुभूतियाँ भी अभिव्यक्ति पा सकती हैं। फलतः 'रहस्यवाद' की सीमा में ये तीनों पक्ष प्रमुख रूप से विवेच्य हैं। आनुषंगिक रूप में इनकी विलक्षण अभिव्यंजन प्रणाली की भी विवेचना अपेक्षित है। अगले चार अध्यायों में क्रमशः इन्हीं पक्षों की निरूपणा प्रस्तुत की जायेगी।

अनुभूत (रहस्य) तत्त्व का स्वरूप

रहस्यं—प्रमाणाद्यप्रवृत्तेः सर्वजनागोचरं प्रमातृमात्रसत्तत्त्वं परं तत्त्वम् ।
[प्रमाणादि की प्रवृत्ति के अभाव में, सर्वजनों के अगोचर, प्रमाता मात्र सतत्त्व जो परमतत्त्व है, वही 'रहस्य' है ।]

—तन्त्रालोक, जयरथीटीका, पृ. 97

रहस्यवाद के स्वरूप और प्रकार पर दृष्टि निक्षेप करने के अनन्तर सम्प्रति, यह विचारणीय है कि भारतीय रहस्यदर्शियों ने 'रहस्य' का स्वरूप अथवा अनुभूति-वेद्य रहस्यमय तत्त्व का स्वरूप किस प्रकार निरूपित किया है । वेदों में उस रहस्यमय अद्वयात्मक तत्त्व का विभिन्न स्थलों में संकेत मिलता है । इन संकेतों का उपवृंहित रूप उपनिषदों में द्रष्टव्य है । उपनिषद् के व्याख्याकारों ने उसे 'सत्', 'चित्' और 'आनन्दमय' बताया है और कहा है कि यह उस गुह्य तत्त्व का 'स्वरूप लक्षण' है । सृष्टि का निर्माण, स्थापन और संहरण-जैसी क्रियाओं का कर्तृत्व उसका तटस्थ लक्षण है । उपनिषदों के अद्वैतवादी व्याख्याकार शंकर ने उसे निर्विशेष और अद्वैत-तत्त्व के रूप में प्रतिपादित किया है । किन्तु भक्तिमार्गी वैष्णवों ने स्वयं द्वैतवादी भूमिका पर प्रतिष्ठित होकर उसके 'सविशेष' और सगुण रूप का सबल प्रतिपादन किया है । विशिष्टाद्वैतवादी उस गुह्य अद्वैत तत्त्व को चित् और अचित् जैसे विशेषणों से विशिष्ट बताते हैं । शुद्धाद्वैतवादी शंकर की भाँति उस अद्वैत को 'माया शबल' न कहकर 'शुद्ध' प्रतिपादित करते हैं । इसी प्रकार द्वैत, अद्वैत एवं अचिन्त्य भेदा-भेदवादी दार्शनिकों ने उस गुह्य तत्त्व को किसी-न-किसी प्रकार 'सविशेष' ही कहना चाहा है ।

वेदों में आस्था रखने वाले अन्य आस्तिक दार्शनिकों में उत्तर-मीमांसा अर्थात् वेदान्त-दर्शन के मनीषियों का विचार ऊपर स्पष्ट किया गया है । पूर्व-मीमांसा वेदों के कर्मकाण्ड को ही महत्त्व देती है, इसीलिए उपनिषदों में प्रयुक्त 'सिद्ध' वाक्यों द्वारा अटपटी शैली में संकेतित उस रहस्यमय तत्त्व को वह प्रायः उपेक्षित करती है । 'सांख्य' और 'पातंजल' में सेश्वर-सांख्य और पातंजल दर्शन उस परम तत्त्व को ईश्वर के रूप में चिन्मय बताते हैं । वेदान्तियों की भाँति वहाँ तत्त्व-चिदानन्दमय नहीं, केवल 'चिन्मय' कहा गया है । आनन्द को वहाँ प्राकृत (सत्त्व गुण) विकार माना गया है । तार्किकों के यहाँ मुक्त दशा में आत्मा की स्थिति

जड़ात्मक-सी कही गयी है। इसीलिए श्रीहर्ष ने गौतम का उपहास करते हुए उन्हें 'गोतम' कहा है। इन आस्तिक दर्शनों के अतिरिक्त नास्तिक दर्शनों में, वेद पर आस्था न रखनेवाले नास्तिकों में जैन दार्शनिक जीवात्मा की बात करते हैं पर उसे जीवधारी के स्थूल शरीर के अनुसार 'मध्यम-परिमाण' का मानते हैं। हीनयानी बौद्ध दार्शनिक तो नैरात्म्यवादी के रूप में प्रसिद्ध ही हैं। चार्वाकों ने तो शरीर को ही आत्मा कहा है। इस प्रकार रहस्यमय आत्म तत्त्व के स्वरूप के विषय में प्रकट की गयी इन धारणाओं को कतिपय विवेचक परस्पर अत्यन्त विरुद्ध न मानकर भूमिका-भेद के अनुसार समन्वित करते हैं और सबसे ऊँची तथा परिनिष्ठित भूमिका आत्मा के 'निर्विशेष' तथा 'अद्वैत-रूप' को ही कहते हैं। गुह्य तत्त्व के सम्बन्ध में दार्शनिकों की इन समस्त विवेचनाओं का मूलाधार भारतीय रहस्यदर्शियों की अनुभूतियाँ ही हैं। इन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति करते हुए उसका निरूपण ऐसे परस्पर विरोधी विशेषणों से हुआ है कि भूमिका-भेद से उसके स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ आधार सबको मिल ही गये हैं।

इस 'नैगमिक' और 'नास्तिक' धारा के अतिरिक्त उस गुह्य तत्त्व के अनुभूत रूप का निर्देश हमें 'आगमिक' वाङ्मय में भी मिलता है। उत्तरोत्तर यह धारा इतनी प्रभावशालिनी होती गयी कि बौद्ध, जैन, शैव एवं वैष्णव —सभी सम्प्रदायों ने इसे आत्मसात् किया। इस धारा की सबसे प्रमुख विशेषता यह थी कि इसमें मूलतत्त्व को 'शक्ति' संवलित स्वीकार किया गया है—यहाँ का अद्वय 'द्वयात्मक' है—यहाँ 'मूल तत्त्व' ऋणात्मक तथा धनात्मक का एकीकृत रूप, शक्ति तथा शक्तिमान का समरस रूप और एक ही साथ सस्पन्द तथा निःस्पन्द, सक्रिय एवं निष्क्रिय है। मूलतत्त्व का शक्तिमय पक्ष ही धनात्मक, सस्पन्द, क्रियामय एवं गतिसम्पन्न है। ये अद्वयी आगमिक अद्वैत वेदान्तियों के निर्विशेष ब्रह्म को शक्ति शून्य होने के कारण 'शान्त ब्रह्म' कहते हैं और अपने को 'पूर्ण ब्रह्मवादी' मानते हैं। अद्वैत वेदान्तियों की मायात्मिका शक्ति जड़ है—जो अन्ततः 'अनिर्वचनीय' और 'निवर्त्य' कही गयी है, पर आगमिकों की शक्ति या महामाया चिन्मयी है—जो मूलतत्त्व की अपनी स्परूपभूता है।

इस प्रकार रहस्यदर्शियों ने जिस मूल रहस्यात्मक तत्त्व का साक्षात्कार किया है उसका दृष्टि विशेष से स्पष्टीकरण दार्शनिक लोग किया करते हैं। यद्यपि उसे भी एक तरफ शब्द की सीमाओं और दूसरी ओर प्रकाश्य तत्त्व की असीमता को देखकर अपर्याप्त ही कहा जा सकता है तथापि दार्शनिकों ने जो कुछ कहा है, उसके अनुसार यही कहा जा सकता है कि औपनिषद धारा के प्रतिष्ठित अद्वैतवादी शंकराचार्य उस मूलतत्त्व को द्वैत विरोधी, अद्वयात्मक मानते हैं, जब कि आगमिक रहस्यधारा के दार्शनिक अथवा सिद्ध सन्त उसे द्वयात्मक अद्वय स्वीकार करते हैं।

यह तान्त्रिक या रहस्यमयी धारा शैव, शाक्त, वैष्णव और बौद्धों को प्रभावित करती हुई मध्यकालीन सन्तों, साधकों, सिद्धों एवं आधुनिक कवियों तक

परिव्याप्त लक्षित होती है। आगमिक शैव और शाक्त उत्कृष्ट भूमिका पर मूल-तत्त्व को शिव और शक्ति-जैसे दो चिन्मय तत्त्वों का समरस रूप मानते हैं। उन दो तत्त्वों में जो शिव का प्राधान्य स्वीकार करते हैं वे शैव और जो शक्ति का प्राधान्य स्वीकार करते हैं वे शाक्त कहलाते हैं। पाञ्चरात्र-जैसी आगमानुसारी वैष्णव धारा में भी विष्णु और लक्ष्मी नाम से उन्हीं दो ऋणात्मक और धनात्मक निःस्पन्द और सस्पन्द तथा शान्त और सक्रिय तत्त्वों का अभिधान हुआ है। बौद्धों की धारा जब तक अर्थात् प्रथम चक्र प्रवर्तन तक आगमों के प्रभाव में नहीं आयी थी, तब तक वह मूलतत्त्व या तो अपनी अवक्तव्य प्रकृति के कारण भगवान बुद्ध के द्वारा सम्यक् रूप से अव्याख्यात ही रहा, अथवा दार्शनिकों द्वारा विज्ञानमय और चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्यातमा कहा जाता रहा, किन्तु सम्प्रति एक ओर आधुनिक चिन्तकों की ऐसी विवेचनाएँ मिलती हैं, जो विभिन्न उद्धरणों से यह प्रतिपादित करती हैं कि बौद्ध वाङ्मय में ऐसे अनेक प्रमाण हैं जिनके आलोक में यह सिद्ध किया जा सकता है कि बौद्ध भी मूल रहस्यमय तत्त्व को उन्हीं विशेषताओं से संकेतित करते हैं जिनसे औपनिषद धारा के अनुयायी शंकराचार्य आदि। आधुनिक चिन्तक और प्राचीन अनुश्रुतियाँ दोनों ही शंकराचार्य पर स्वतः बौद्ध प्रभाव मानते हैं। शंकराचार्य में औपनिषद और बौद्ध धाराएँ ही नहीं; तान्त्रिक धारा का भी योग होने से पूरी त्रिवेणी बन गयी है। द्वितीय या तृतीय धर्म चक्र प्रवर्तन में बौद्धों पर तान्त्रिक प्रभाव बहुत ही स्पष्ट होने लगे, विभिन्न प्रकार की शक्तियाँ भी कल्पित होने लगीं। महायानियों की प्रज्ञा पारमिता ऐसी ही शक्ति रूप में कही गयी है।

बौद्ध धारा की चरम परिणति तान्त्रिक रूप की मानी जाती है, जिसके अन्तर्गत वज्रयान, सहजयान और कालचक्रयान की मुख्यतः गणना की जाती है। इस रूप में पल्लवित बौद्ध धारा के अन्तर्गत चरम सत्य का निर्वचन आगमिक धारा के अनुरूप किया गया मिलता है। सरहपाद ने 'परम पद' का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए अनेकशः कहा है कि वह तत्त्व 'मायामय' है :

"बुद्धि विणासइ मन मरइ तुहइ जहाँ अहिमाण।
सो माआमअ परमपउ तहिं की वज्जइ झाण।" (61)

वह परम पद या चरम सत्य 'मायामय' है। परम पद को मायामय माननेवाला, भव एवं निर्वाण को एक कहनेवाला, चित्त के ही सहज रूप को साध्य बनाने वाला तथा संसार को हेय न कहनेवाला सिद्ध-मत शांकर अद्वयवादी विचारधारा के अनुरूप न पड़कर आगमिक विचारधारा के ही अनुरूप पड़ सकता है। ऊपर आगमिक दृष्टि को 'सत्य' के विषय में स्पष्ट करते हुए कहा ही गया है कि उसे माया से एकरस या मायामय माना गया है—वही दृष्टि सरहपाद की उक्ति में स्पष्ट की गयी है। आगमिकों की भाँति यहाँ पञ्च स्कन्धों के अधिष्ठाता-देव के रूप में पाँच ध्यानी बुद्धों की कल्पना की गयी और सबके साथ एक-एक शक्ति की भी स्थिति मानी गयी। यहाँ यह भी माना गया कि चित्त का सहज रूप 'बोधि' में

प्रतिष्ठित 'चित्त' है—जिसे 'बोधिचित्त' कहा जाता है। यही निज स्वरूप है—जो अद्वयात्मक है। यह 'अद्वय' द्वयात्मक है—ठीक उसी प्रकार जैसा कि आगमिक दृष्टि से चरम सत्य का निरूपण करते हुए कहा गया है। इस अद्वयात्मक 'बोधि-चित्त' के दो पक्ष हैं—'शून्यता' और 'करुणा' अथवा 'प्रज्ञा' और 'उपाय'। कहा ही गया है—"शून्यताकरुणाभिन्नं बोधिचित्तं तदुच्यते।" तान्त्रिक बौद्धों में 'युगनद्ध' इसी समरस रूप का प्रतीक है। चरम सत्य के स्वरूप के सम्बन्ध में रहस्यदर्शी बौद्ध सिद्धों का यह आगम-सम्मत आख्यान है। आगमिक धारणा है कि चित् ही संकुचित भूमिका में 'चित्त' है और परिशुद्ध और भूमा की भूमिका में चित् सहज रूप। अतः बौद्ध सिद्धों की भी यह धारणा कि बोधि में प्रतिष्ठित 'चित्त' ही, सहज स्वरूप है—आगमानुकूल ही जान पड़ता है। काण्हपाद ने 'चरम सत्य' या निजदेह का आगम-सम्मत रूप निर्दिष्ट करते हुए यह कहा है:

"निअ देह करुणा शुन में हेरी।"

उसी चरम सत्य का वर्णन लुईपाद ने भी इन शब्दों में किया है:

भाव ण होइ अभाव ण जाइ। अइस संवोहे को पतिआइ।
लूइ भणइ वर दुलक्ख विणाणा। तिअ धाए विलसइ उह लोगणा।
जाहिर वाण चिह्न रूव ण जाणी। सो कइसे आगम वेएँ वखाणी।
कहि रे किस भणि मइ दिवि पिरिच्छा। ऊदक चाँद जिम साच न मिच्छा॥

अर्थात् जहाँ भाव भी नहीं होता और अभाव भी नहीं जाता---ऐसे सम्बोधि चरम सत्य की अनुभूति पर कौन संसारी विश्वास करेगा? लूईपाद का विचार है कि यह विज्ञान बहुत ही दुर्लक्ष्य है--यह तीन धातुओं में विलास करता है - किन्तु इससे भिन्न किसी अन्य उद्देश्य की प्राप्ति यहाँ नहीं होती। जिस तत्त्व का कोई वर्ण, चिह्न, रूप नहीं जाना जाता—तो फिर भला आगम, वेद उसकी व्याख्या क्या कर सकेंगे? किसके सम्बन्ध में क्या कहकर हम उसके सम्बन्ध में की गयी जिज्ञासा का समाधान करेंगे? जल के चन्द्रमा को सत्य भी नहीं कहा जा सकता और मिथ्या भी नहीं कहा जा सकता।

इस तरह औपनिषद रहस्यदर्शियों की भाँति ये सिद्ध भी उस तत्त्व को अवाङ्मनोगोचर बताते हैं। उसका वर्णन संस्कार के पदार्थों के लिए प्रयुक्त किसी भी शब्द से करने में वे अपने को असमर्थ पाते हैं। वे उसे भावात्मक कहें या अभावात्मक—कुछ समझ नहीं पाते। आगमों में भी इसी प्रकार के परस्पर विरोधी अर्थ के बोधक शब्दों द्वारा उस चरम सत्य का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। वह सगुण भी है, निर्गुण भी है और न सगुण है न निर्गुण। वह जैसा है—वैसा है। शब्दों के द्वारा उसका स्वरूप निरूपण करना संसार को धोखे में डालना है। इसीलिए तो उस तत्त्व को रहस्यमय कहा गया है। रहस्यदर्शी इसी स्वरूप का वाद प्रस्तुत करते हैं---पर कर नहीं पाते। उसे गूँगे के गुड़ के आस्वाद की भाँति मन ही मन अनुभव करते हैं।

नाथ सिद्धों की उक्तियों में भी उस रहस्यमय तत्त्व का स्वरूप स्पष्ट करने

में ऐसी ही असमर्थता दिखायी पड़ती है। वे न उस तत्त्व को द्वैतमय कह पाते हैं न अद्वैतमय—बल्कि कभी-कभी उसे द्वैताद्वैत विलक्षण तक कह गये हैं। इन लोगों ने द्वैत अथवा अद्वैत—किसी भी मत को पूर्ण सत्य नहीं माना है—पर साथ ही यह भी स्मरणीय है कि इन दोनों पक्षों का खण्डन भी नहीं किया है। जलन्धरनाथ ने 'सिद्धान्तवाक्य' में इन नाथपन्थियों के अभिमत को प्रकट करते हुए कहा है—

"द्वैतं वाद्वैतरूपं द्वयत उत परं योगिनां शंकरं वा।"

ये लाग उन लोगों के विरोधी हैं जो जड़ात्मक शरीर और चिन्मय परतत्त्व को सर्वथा विरुद्ध मानते हैं। ये लोग काय का भी चिन्मयीकरण करते हैं और अन्ततः 'सामरस्य' (पिण्डपदसामरस्य), की बात करते हैं। 'सामरस्य' का यह सिद्धान्त नाथों को आगमिक धारा का ही अनुयायी कहता है।

महाराष्ट्र में नाथ धारा और भागवत धारा का अद्भुत समरसीकरण 'वारकरी पन्थ' में मिलता है। वारकरी मत के विशेषज्ञ दाण्डेकर का कहना है कि ये वारकरी जहाँ एक ओर नाथ धारा के 'नादतत्त्व' पर बल देते हैं—वहाँ दूसरी ओर भागवत धारा के अनुसार सगुणोपासना द्वारा निर्गुण प्राप्ति को लक्ष्य मानते हैं। 'नाद' का सम्बन्ध कुण्डलिनी-जागरण से है और कुण्डलिनी-जागरण में उपयोग 'भक्ति' का है। भक्ति का आलम्बन 'सगुण' है—जो 'विट्ठल' भी है और 'गुरु' भी[1]। वस्तुतः 'ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तित्रय विभागिने' में बहुत सही कहा गया है कि ईश्वर गुरु एवं आत्मा तत्त्वतः एक ही है—केवल मूर्तिभेद भर (ऊपरी) है। इस प्रकार भक्ति द्वारा कुण्डलिनी-जागरण और परिणामतः नाद साक्षात्कार के द्वारा गुणातीत दशा की प्रगति—मूलतत्त्व की प्रगति है। इसी वारकरी सम्प्रदाय के नामदेव महाराष्ट्र में 'विठुला' के उपासक भी प्रसिद्ध हैं और दूसरी ओर उत्तरी भारत की यात्रा करने पर सामयिक परिस्थितियों को देखते हुए मूर्तिपूजा का खण्डन कर एक सीमित रूप में निर्गुनियों की सन्त धारा का सूत्रपात भी करते हैं।

निर्गुनियाँ सन्त धारा या निर्गुण धारा की चतुष्पाद प्रतिष्ठा का श्रेय कबीरदास को ही दिया जाना चाहिए—कारण, इस धारा में सगुण के खण्डन का जो प्रबलतम स्वर मुखर है उसका श्रेय वारकरी के नामदेव की अपेक्षा सन्त कबीर को ही देना उपयुक्त है। कबीर ने जितना खुलकर अपने राम और कृष्ण

1. नौबत बाजे गगन में बिन बादल घन गाज।
महल विराजैं परमगुरु दरिया के महाराज ॥26 वही, पृ. 53
2. दरिया निरगुण नाम है 'सरगुण सतगुरु देव'।
ये सुमिरावै राम को वो है अलख अभेव ॥31 श्री रामसनेही अनुभव आलोक, पृ. 76
3. किसको निन्दूं किसको वन्दू, दोनूं पल्ला भारी।
निरगुण तो है पिता हमारा, सरगुण है महतारी ॥25 वही. पृ. 79
इसमें सगुण का खण्डन नहीं है।

को 'दशरथ-सुत' और 'नन्दसुत' न होने पर बल दिया है—उतना क्या अंशतः भी इस प्रकार का स्वर पहले मुखर नहीं था। आवश्यकता भी नहीं थी। और तो और अद्वैतवादी भी अधिकार-भेदवश क्रम-मुक्ति के लिए सगुणोपासना का विधान करते हैं। दूसरा अन्तर यह भी हो सकता है कि जिस प्रकार 'भागवत' के प्रभाव में रहनेवाले ये वारकरी, सगुणोपासना द्वारा निर्गुण दशा की ज्ञानलभ्य उपलब्धि के बाद भी स्वरसतः द्वैत की कल्पित भूमिका पर ज्ञानोत्तराभक्ति की धारा में मग्न रहना चाहते हैं—निर्गुनियाँ सन्त वैसा न चाहते हों—उनका मार्ग भिन्न हो। भिन्न इस प्रकार कि 'विहंगम योग' द्वारा पिण्ड की सीमा के बाद ब्रह्माण्ड को भी लाँघती ,महाशून्य के निराधार प्रदेश से होती हुई उनकी सुरत 'भ्रमर गुहा' के दरवाज़े से 'सत्यराज्य' में और उससे भी आगे 'अगम' लोक में ही पहुँचकर परम विश्रान्त हो जाती हो—'सुरत' 'शब्द' में लीन हो जाती हो। अस्तु, साधना-राज्य के अन्तिम रहस्य और भेदक वैशिष्ट्य को पूर्णतः कह पाना तो सर्वथा असम्भव है।

इन निर्गुनियाँ सन्तों ने उस अनुभूत परम सत्य का जो परिचय प्रस्तुत किया है उसे शुद्ध बौद्धिक भूमिका पर ग्रहण करनेवाले आवगगोचरतावश उत्पन्न व्यवधानों के कारण समग्रता और एकरूपता में ग्रहण नहीं कर पाते। फलतः उन वर्णनों से उभरे हुए चित्र अधूरी भूमिका के खण्ड पाठकों की दृष्टि में विभक्त और असंगत लक्षित होते हैं। वे समीक्षक इन असंगतियों से ग्रस्त होकर कबीर के प्रतिपाद्य को विभिन्न वादों की भूमिका पर परीक्षित करना चाहते हैं और जब अनेक वादों के अनुरूप सामग्री मिलने लगती है तब वे विमुग्ध हो जाते हैं। फलतः अनुभूति निरपेक्ष मनमाना विचार और समन्वय प्रस्तुत करने लगते हैं। कभी-कभी ऐसी ही विमुग्धावस्था का निष्कर्ष उन आलोचकों के विचारों में दिखायी पड़ता है, जो सन्तों के विचारों में अस्थिरता प्रदर्शित करते हैं और स्वतः अपने व्यामोह को इन उक्तियों में प्रतिबिम्बित देखते हैं। सन्तों ने तो यह स्वीकार किया है कि 'कहिबे कूँ सोभा नहीं देख्या ही परिवान' उस रहस्यमय तत्त्व के विषय में जो कुछ भी कहा जाये वह प्रमाण नहीं है, बल्कि उसकी अपरोक्षानुभूति ही उसके विषय में प्रमाण है। वे तो कहते हैं कि शब्द विकल्प के जनक हैं, अतः उसके द्वारा कहने में धोखा ही धोखा है। वस्तुतः कहने में जितनी दूर तक वह आता है वह अधूरा ही है। इसलिए कथन के माध्यम से उभरे हुए चित्र को ही पूरा मान लेने में भ्रान्ति ही भ्रान्ति है। "जैस कहत तस होत नहीं जस है तैसा होइ" वह तो जैसा है वैसा है। उसके विषय में इन सन्तों का कहना है—

"अविगत अकल अनूपम देखा कहताँ कह्या न जाइ।
सैन करइ मनहीं मन रहसै गूँगै जानि मिठाई ॥"

इन सन्तों ने 'गुन अतीत', 'गुन विहून', 'निराकार', 'अलख', 'निरंजन', 'तत', 'परम तत', 'अनूप तत', 'निज तत', 'आतम', 'आप', 'सार', 'परमपद', 'निजपद', 'चौथापद', 'अभयपद', 'सहज', 'सुनि', 'सति', 'ज्ञान', 'अनन्त', 'अमृत', 'उन्मन',

'गगन', 'जोति', 'सिव', 'ब्रह्म' आदि न जाने कितने नामों से सम्बोधित एवं वर्णित किया है। वे उस तत्त्व को हरिगोविन्द, राम, केसव, माधव, अल्लाह, खुदा न जाने किन-किन नामों से पुकारते हैं। अभिप्राय यह है कि इस प्रकार वे सन्त उस रहस्यमय तत्त्व को व्यक्त करने के लिए विविध प्रकार की चेष्टाएँ करते हैं। उनके उद्‌गारों में कुछ लोगों को उपनिषदों की नेति-नेतिवाली शैली भी मिलती है। क्योंकि वे सन्त कहते हैं कि वह अवर्ण, अरूप, अरंग, अबाल, अगूढ़, अतोल, अमोल, न हल्का न भारी, न ज्ञान और न अज्ञान, न भाव और न अभाव। उसका रूप नहीं, रेख नहीं। वह समुद्र भी नहीं, पर्वत भी नहीं, पानी भी नहीं, धरती भी नहीं, आकाश भी नहीं, सूर्य भी नहीं, चन्द्र भी नहीं, पवन भी नहीं अर्थात् समस्त दृश्यमान पदार्थों से भिन्न और विलक्षण है, फिर भी वह सबकुछ है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए सन्तों ने विवर्तवाद, परिणामवाद का भी जहाँ-तहाँ सहारा लिया है।

वस्तुतः प्रत्येक नाम सापेक्ष रूप का ही बोधक है और वह रहस्यमय तत्त्व है परम निरपेक्ष। अतः परस्पर विरोधी नाम और रूपों से उसका वर्णन किया जाता है ताकि एक नाम से कहने पर स्वतः प्राप्त पक्षान्तर का अभाव वहाँ न सिद्ध हो जाये— अन्यथा उसकी पूर्णता ही खण्डित हो जायेगी। इसीलिए वह भाव भी है और अभाव भी और वस्तुतः न भाव है न अभाव। इसीलिए बौद्धिक संगतियों से ऊपर उठा हुआ वह रहस्यमय तत्त्व है। इसीलिए कबीर तो कभी-कभी झुँझलाकर यह कह देते हैं कि 'तहाँ किछु आहि कि सून्यम्' अर्थात् वहाँ कुछ है भी कि शून्य ही शून्य है। सन्त सुन्दरदास ने अपने 'ज्ञान-समुद्र' में रहस्यमय तत्त्व की इसी अनिर्वचनीयता को व्यक्त करते हुए कहा है—

"यह अत्यन्ताभाव है यह ही तुर्यातीत।
यह अनुभव साक्षात् है यह निश्चय अद्वैत॥
'नाहीं-नाहीं' कर कहै 'है-है' कहै बखानि
नाहीं है के मध्य है सो अनुभव करि जानि॥"

इसीलिए रहस्यमय तत्त्व की अनिर्वचनीयता को देखकर औपनिषद रहस्य-दर्शियों ने उसका मौन व्याख्यान किया था। बुद्ध ने भी मौन द्वारा निर्वचन करने में ही सुरक्षा का अनुभव किया था। उसी स्वर में कबीर ने इसीलिए कहा है—

"बोलना का कहिए रे भाई। बोलत-बोलत तत्त्व नसाई।"

क्योंकि—

"एक कहै तो है नहीं दोय कहूँ तो गारि।
है जैसा तैसा रहै कहै कबीर विचारि॥"

बात यह है 'एक' और 'अनेक' भी तो परस्पर सापेक्ष हैं। इसीलिए जो सबसे मुक्त है वह इनसे युक्त किस प्रकार हो सकता है।

रहस्य की रहस्यमयता तब और बढ़ जाती है जब हम सन्तों की रचनाओं में उस रहस्यमय तत्त्व का स्वरूप एक तरफ अवक्तव्य और अनिर्वचनीय पाते हैं,

और दूसरी ओर उसके विराट् सगुण रूप का भी उल्लेख देखते हैं । इस प्रकार ये सन्त एक तरफ परस्पर विरोधी विशेषणों से उस निर्विशेष एवं अवक्तव्य रहस्यमय तत्त्व का स्वरूप उद्घाटित करते हैं अन्यत्र उसके विश्वरूपात्मक स्वरूप का चित्र प्रस्तुत करते हैं । तीसरी ओर पुराण प्रतिपादित अवतारों से मिलते-जुलते वर्णन दिखायी पड़ते हैं । कुछ लोग इन वर्णनों में एकेश्वरवाद का आभास पाते हैं । अन्य लोग बौद्धों के शून्य की प्रतिध्वनि बताते हैं । कितने लोग सहजियों के सहज का अस्तितत्र कहते हैं । इतना ही नहीं कतिपय मनीषी कुछ सन्तों को अद्वैतवादी, कुछ को भेदाभेदवादी और कुछ को विशिष्टाद्वैती कहते हैं । डॉ. बड़थ्वाल के इस वर्गीकरण के विपरीत कुमारी अण्डरहिल ने कबीर को रामानुज के विशिष्टाद्वैत का समर्थक माना था और फर्खुहर ने निम्बार्क के भेदाभेद का उन्हें उपस्थापक कहा था । डॉ. बड़थ्वाल ने इन स्थापनाओं का खण्डन करते हुए कहा है कि कबीर की उक्तियों में से कोई भी वाद निकाला जा सकता है । परन्तु स्वतः कबीर ने उनमें से किसी एक को भी नहीं अपनाया था । सन्तों ने ठीक ही कहा है—"जाके अनुभव ज्ञान सो वाद में न बह्यो है ।" सन्तों के उद्गारों में रहस्यमय तत्त्व की रहस्यमयता को बढ़ानेवाली अनेक उक्तियाँ हैं । विभिन्न सन्त धाराओं में परम पद को अखण्ड मानते हुए भी विभिन्न स्तरों का उल्लेख, परम पद को निराकार और अरूप मानते हुए भी, सगुण का खण्डन करते हुए भी रूप-सौन्दर्य-मूलक, भावविह्वलता और विरह की तीव्रता, करुणा और प्रेम से आपूरित हृदय का नैसर्गिक उच्छलन—ये सब तत्त्व रहस्य की रहस्यमयता को और स्पष्ट करते हैं । वस्तुतः इन गुरुयानी सन्तों ने ईश्वर, गुरु और आतमा को भूमिका-भेद से भिन्न रहते हुए भी अभिन्न मानकर अनुभूतिमूलक विभिन्न उद्गार प्रकट किये हैं और इसी कारण इस प्रकार का अटपटापन उभरा हुआ है ।

आधुनिक रहस्यवादी कवि—प्रसाद, पन्त, निराला—चिन्तन की भूमिका पर आरूढ़ रहस्यवाद की दिशा में भावना और कल्पना-प्रवण हैं । इसलिए दार्शनिक दृष्टि से इन लोगों द्वारा निरूपित परतत्त्व आगमिक चिन्तन के अनुरूप पड़ता है जहाँ उस तत्त्व को द्वयात्मक अद्वय तत्त्व कहा गया है ।

अन्ततः रहस्यदर्शी सिद्धों, सन्तों और पहुँचे हुए महात्माओं के वचनों से लेकर रहस्यदर्शी चिन्तक कवियों की अभिव्यंजनाओं का निरीक्षण कर लेने पर रहस्यमय तत्त्व का स्वरूप दार्शनिक दृष्टि से 'अद्वयात्मक' ही निश्चित होता है । आगमिक धारा को 'अद्वैत' का साधनात्मक पक्ष कहा जाता है । कदाचित् यही कारण है कि शंकराचार्य भी अपनी वैयक्तिक साधनाओं की कृतियों में 'अद्वय' को द्वयात्मक ही कहते हैं—

"शिवःशक्त्या युक्तो भवति यदि शक्तः ।"

अर्थात् नैगमिक 'अद्वय' भी साधकों को अपनी 'द्वयात्मकता' में ही ग्राह्य है । इस प्रकार 'अद्वय' का अर्थ—दो की समरस स्थिति ही माना गया है—तथापि इसे निर्वचन करते समय भाव, अभाव, उभयातीत, सगुण एवं निर्गुण, सभी रूपों से

संवलित कहा गया है । इसीलिए आगमिकों ने उस रहस्य तत्त्व को 'पूर्ण' कहा है। उसमें सभी 'है' भी हैं और सभी 'नहीं' भी हैं और क्या 'है' तथा क्या 'नहीं' है—यह अवक्तव्य है । निष्कर्ष स्पष्ट है कि मूल तत्त्व 'दो का समरस' रूप है । इसी भाव को स्पष्ट करते हुए आगमिक उस 'पूर्ण' को 'शिव' और 'शक्ति' का 'प्रकाश' और 'विमर्श' का, बौद्ध 'शून्यता' और 'करुणा' या 'प्रज्ञा' और 'उपाय' का ['युग्गनद्ध' रूप]' वैष्णव महालक्ष्मी और नारायण का मध्यकालीन वैष्णव 'राधा' और 'कृष्ण' का समरस रूप स्वीकार करते हैं । निर्गुनियाँ सन्तों की भी यही धारणा है, जिसका स्पष्टीकरण 'राधास्वामी'[1] मत में बहुत ज्यादा हो गया है। वे 'राधा' और 'स्वामी' का समरस रूप स्वीकार करते हैं । सन्तों ने सामान्यतः 'मालिक' और उसकी 'मौज' के रूप में उन दो आगमसम्मत 'शक्ति' और शक्तिमान को माना है । आगमों में जो शिव की 'स्वातन्त्र्य शक्ति' या 'इच्छा शक्ति' है—जिसका ही लीलात्मक विस्तार विश्व है—सन्तों के यहाँ वही 'मालिक' की 'मौज' है—जो लीलात्मक विश्वाकार परिणति के लिए अपने अधोमुखी रूप में 'धारा' है और ऊर्ध्वमुखी रूप में 'राधा' है। इस ऊर्ध्वमुखी रूप में वह 'स्वामी' से एकाकार हो जाती है। कबीर के इस निहित मन्तव्य का प्रकाशक उनका दोहा ही है—

"कबीर धारा अगम की, सत्गुरु दई लखाय ।
उलट ताहिं सुमिरन करो, स्वामी संग मिलाय ।"

सन्तों या रहस्यदर्शियों का ख्याल है कि वह रहस्यमय 'स्वामी' ही 'सद्गुरु' रूप में प्रकट होता है और अपने निर्देश में 'धारा' को उलटकर 'स्वामी' से एकरस कर देता है । इस तरह अनुभूत 'रहस्य' का स्वरूप अपनी अवक्तव्य अनिर्वचनीयता में रहस्यदर्शियों द्वारा और वक्तव्य वर्चनीयता में दार्शनिकों द्वारा निरूपित किया गया है ।

1. राधा आदि सुरत का नाम । स्वामी आदि शब्द निजधाम ।
सुरत शब्द औ राधास्वामी । दोनों नाम एक कर जानी ॥—राधा स्वामी सारवचन

रहस्यानुभूति की प्रक्रिया

"उताधीतं विनश्यति"—

[जब विचार द्वारा इसके समीप पहुँचा जाता है, तब वह लुप्त हो जाता है ।]

ऋग्वेद, मं. 1, सू. 170, ऋ. 1

विगत अध्याय में रहस्यदर्शियों अथवा रहस्य-चिन्तकों की सम्बद्ध अभिव्यक्तियों को आधार बनाकर अनुभूत अथवा विचारित 'रहस्य' तत्त्व के स्वरूप के सम्बन्ध में यथासम्भव विवेचन प्रस्तुत किया गया है । प्रस्तुत अध्याय में रहस्य-दर्शियों की उन अनुभूतियों का स्वरूप विवेचित करना है—जो विशिष्ट साधनाओं के फलस्वरूप उदित होती हैं अथवा कुछ अदृष्ट कारणों से अकस्मात् भी हो जाया करती हैं । साधनाएँ साधक की प्रकृति के अनुसार हुआ करती हैं और प्रकृति दो प्रकार की मानी गयी है—द्रुतिशील एवं अद्रुतिशील । द्रुतिशील अन्तः-करणवालों की साधना भक्ति-साधना है – रागात्मक सम्बन्धों के सहारे की गयी उपासना है और अद्रुतिशील अन्तःकरणवालों की साधना ज्ञानमार्ग की श्रवण, मनन निदिध्यासन—साधना है । अस्तु, साधनापक्ष से विस्तृत विवेचन अगले अध्याय में प्रस्तुत किया जायेगा, यहाँ तो इस प्रासंगिक चर्चा का केवल इतना ही उपयोग है कि ज्ञानमार्गी उपासना का प्राधान्य वैदिक वाङ्मय में लक्षित होता है । आगमिक और उससे प्रभावित परवर्ती धारा में भाव-मार्ग का प्राधान्य दृष्टिगोचर होता है । यही कारण है कि रहस्य सम्बन्धी जिज्ञासा से वैदिक ऋषि, महर्षि बेचैन हैं—अर्थात् वहाँ 'रहस्यवाद' का जिज्ञासात्मक रूप भी दिखायी पड़ता है । भाव की भूमिका पर परवर्ती मध्यकालीन रहस्यदर्शियों में जिस प्रकार संयोग और वियोग की रहस्यमयी दशाओं का धारा-प्रवाह उल्लेख पाया जाता है —उसका यहाँ सर्वथा अभाव है । इसके विपरीत वेदों, आरण्यकों एवं उपनिषदों में या तो 'रहस्य'-मय तत्त्व का अनुभूत रूप विवेचित होता है अथवा अदृष्ट लोकों अथवा साधना-लब्ध 'परमपद' 'परमव्योमन्' जैसे स्थानों की रहस्यमयी अनुभूतियों का विवरण उपलब्ध होने लगता है । इस प्रकार 'रहस्यात्मक अनुभूतियों' से यहाँ मेरा अभि-प्राय निम्नलिखित प्रकार की अनुभूतियों से है :

(अ) जिज्ञासात्मक अनुभूतियाँ, परतत्त्व सम्बन्धी अनुभूतियाँ,

(ब) भावनात्मक—[संयोग, वियोग]—अनुभूतियाँ,

(स) साधनालब्ध रहस्यमय लोकों की अनुभूतियाँ।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है—वेदों, आरण्यकों और उपनिषदों में प्रथम एवं तृतीय प्रकार की रहस्यमयी अनुभूतियों का ब्यौरा मिलता है।

वेदों की रहस्यमयता के सम्बन्ध में प्राचीनों की तो बात पृथक् है—महर्षि अरविन्द, म. म. पं. गोपीनाथ कविराज जैसे अर्वाचीन साधक विद्वानों की भी यह धारणा है कि मन्त्रों का साक्षात्कार करनेवाले ऋषि रहस्यदर्शी थे और वे 'गुह्य' अर्थ को प्रतीकों की अपनी भाषा में प्रस्तुत करते थे। इसलिए जो लोग वेदों में केवल जड़ शक्तियों का स्तवन और भौतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किये जानेवाले यज्ञीय कार्यकलापों की ही बात करते हैं—वे उसके ऊपरी अर्थ से ही परिचित हैं। वेद और उपनिषद्—दार्शनिक की अपेक्षा 'सत्य' द्रष्टा कवि की' 'निव्या वचांसि' (गुह्य वाणी) है। "ऋषि दीर्घतमा ऋचाओं के, वेद मन्त्रों के विषय में कहता है कि 'ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्, यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः'—अर्थात् ऋचाएँ रहती हैं उस परम आकाश में, जो कि अविनाश्य व अपरिवर्तनीय है जिसमें कि सब-के-सब देव स्थित हैं" और फिर कहता है "यस्तन्न वेद किम् ऋचा करिष्यति"—वह जो कि उसको नहीं जानता, वह ऋचा से क्या करेगा ? (ऋग्वेद 1।164।39) वहीं (1।164।45) 45वें सूक्त में तो यह भी कहा गया है कि वे स्तर चार हैं— जहाँ से वाणी निकलती है—जिनमें से तीन 'गुह्य' हैं और चौथा स्तर मानवीय है। वेद के शब्द और विचार उच्चतर तीन स्तरों से सम्बन्ध रखते हैं। निष्कर्ष यह कि वहाँ रहस्यानुभूति के विविध रूपों का निस्सन्देह अस्तित्व है। पुरोहितों ने 'ब्राह्मण' में 'यज्ञ' के वाह्य रूप को इतना पल्लवित किया कि 'गुह्य' अर्थ अधिक ढक गया। 'आरण्यक' और 'उपनिषदों' में उसी तत्त्व का विशद प्रकाशन हुआ है और उत्तरोत्तर यथासम्भव होता ही गया है।

यहाँ एक स्वाभाविक जिज्ञासा यह सम्भव है कि वेद का वह 'गुह्य' या 'रहस्य' मय आशय क्या है ? वस्तुतः वह है—सत्य, प्रकाश और अमरता की जिज्ञासा। ऐसे उद्‌गार अनेक स्थलों पर मिलेंगे।

"कासीत् प्रमा ! प्रतिमा ! किं निदानम् ?"

[ऋग्वेद 10।130।3]

सृष्टि क्यों ? इसकी प्रमा क्या है ? किस प्रतिभा को लेकर सृष्टिकर्त्ता ने इसका सूत्रपात किया ? इसका निदान या मूल कारण क्या है ? कहाँ से यह निकल पड़ी ? नासदीय सूक्त में भी इसी प्रकार के प्रश्न और जिज्ञासाएँ प्रस्तुत की गयी हैं, कहा गया है—'कुत इयं विसृष्टिः ?'—यह संसार किससे और कहाँ से आया ? इन्हीं जिज्ञासाओं से शतसहस्र मुखी विस्तार हमें उपनिषदों में उपलब्ध होता है। गार्गी ने याज्ञवल्क्य से पूछा था कि इस निखिल प्रपञ्च का मूल क्या है ? उत्तर था 'आकाश'। गार्गी ने पुनः पूछा 'आकाश का कारण क्या है ?' उत्तर मिला— "वह मानव विचारों की पहुँच के बाहर है"। ऋग्वेद में भी (1।170।1) कहा है—

न नूनमस्ति नो श्वः कस्तद् वेद यदद्भुतम्
अन्यस्य चित्तमभि संचरेण्यमुताधीतं वि नश्यति ।।1।।

अर्थात् "वह न अब है न कल होगा; उसे कौन जानता है जो सर्वोच्च और अद्भुत है। अन्यों की चेतना इसी की गति और क्रिया से संचरित तो होती है, पर जब विचार द्वारा इसके समीप पहुँचा जाता है, तब यह लुप्त हो जाता है।"

इस प्रकार वेदों का जो गुह्य आशय है—उसमें यह भी है—उस गुह्य-तत्त्व की जिज्ञासा। इस जिज्ञासा से प्रेरित होकर जो इसका रहस्यात्मक आशय प्रकट किया है—वह है—'ऋतस्य पन्था'—उसकी या उस सत्य की उपलब्धि का रास्ता। वे वैदिक ऋषि मानते हैं कि 'सत्य' की प्राप्ति करनेवालों का मत है कि हमारे सामने का अनृत और भ्रान्ति से भरा (अनृतस्य भूरेः 7।60।5) हुआ संसार ही सब कुछ नहीं है, इसके परे एक 'सत्य का भी घर' (सदनम् ऋतस्य 1।164।41 : 4।21।3) है—जो 'सत्यं ऋतं वृहत्' (अथर्व 12।1।1)। है—जहाँ सब कुछ सत्य एवं सचेतन है, ऋत-चित् है (4।3।4)। उन लोगों ने और भी अन्यान्य आन्तरकालिक लोकों की कल्पना की है और माना है कि त्रिदिव (त्रिविध द्युलोक) तक बीच में अनेक लोक हैं और उनके प्रकाश हैं। पर सर्वोच्च है—परमपद, परमव्योम। यहीं ले जानेवाले मार्ग की खोज करनी है। यह गुह्यमार्ग है। इस गुह्यमार्ग से चलने पर श्रौत ऋषियों का चरम गन्तव्य-लोक 'परमपद' माना गया है। यह लोक त्रिविक्रम विष्णु द्वारा लङ्घित तीन लोकों से परे है। यहाँ विष्णु का सूक्ष्म रूप में निवास कहा गया है। उस लोक में विष्णु के भक्त या सूरि लोग मधुपान करते हुए आनन्दमग्न रहते हैं। वहाँ का मधुचक्र ही अमृतकप है। इसी लोक की उपलब्धि 'गुह्यब्रह्म' की उपलब्धि है। इस परमपद को विप्र एवं विद्वज्जन ही जानते हैं—

"तद् विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत् परमं पदं ।।"

[ऋ. वे. 1।22।21]

उसी 'परमपद' के विषय में वेदों का कहना है—"तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्"। विद्वानों ने इस वाक्य को आधार बनाकर उस गुह्यलोक 'परमपद' का विशिष्ट व्याख्यान प्रस्तुत किया है। कहा गया है कि द्युलोक में व्याप्त चक्षु के आकार की भाँति फैला हुआ यह परमपद सूरियों द्वारा 'सदा' दृष्टि (ज्ञान-नेत्र) गोचर होता रहता है। 'सदा दृष्टिगोचर' होने का अभिप्राय यह निकाला गया है कि दर्शन-क्रिया सदा तभी हो सकती है—जब द्रष्टा में उन्मेष-निमेष क्रिया शान्त हो गयी हो। उन्मेष और निमेष की क्रिया तभी शान्त हो सकती है जब प्राण, मन तथा इन्द्रियाँ शान्त हो गयी हों। इसी स्थिति में अज्ञानविरोधी ज्ञान-नेत्र खुलते हैं और ज्ञान-नेत्र द्वारा ही उस गुह्यलोक का दर्शन होता है।

परवर्ती रहस्यदर्शियों ने भी इस लोक का विभिन्न रूपों में उल्लेख किया है—

गीताकार ने 'परम धाम', वैष्णवों ने 'परमपद', वाल्मीकि ने 'सनातन आकाश', महाभारतकार ने 'दिव्यं स्थानमजं चाप्रमेयं' तथा नाथों ने भी 'परमपद' की चर्चा की है। अस्तु, यहाँ तो हमें वैदिक वाङ्मय में गुह्यलोक की रहस्यानुभूति करनेवाले वैदिक ऋषियों ने क्या संबद्ध बातें कही हैं—इतना ही बताना है। वेद के रहस्यदर्शी ऋषियों ने इन दो उपर्युक्त रहस्यों के अतिरिक्त तीसरा रहस्य विभिन्न प्रतीकों द्वारा यह बताया है कि इस शरीर में अन्धकार एवं प्रकाश का शाश्वत संघर्ष ही पार्थिव जीवन है। अन्तिम अर्थात् चौथा रहस्य उनके द्वारा यह अनावृत किया गया है कि 'एकं सत्' तत्वतः जो कुछ है—वह 'एक' है।

उपनिषदों में प्राप्त जिज्ञासात्मक रहस्यवाद[1] का उल्लेख तो पहले भी किया जा चुका है। फलतः यहाँ उपनिषदों में प्राप्त होनेवाली कतिपय रहस्यमयी अन्य अनुभूतियों का विवरण दिया जा रहा है। उपनिषदों में मृत्यु के अनन्तर विभिन्न लोकों से प्रयाण करनेवाले जीव के विभिन्न रहस्यमय मार्गों का भी उल्लेख है। उनसे सम्बद्ध अनुभूति भी रहस्य ही है—वे लोक भी रहस्य ही हैं।

उपनिषदों में ऐसी अनेक मानस या अन्य प्रकार की प्रतिक्रियाओं का वर्णन मिलता है जो ब्रह्मानुभूति या रहस्यानुभूति का परिणाम कहा जा सकता है। उपनिषदों में कहा गया है कि जिसने 'रहस्य' को जान लिया—वह आत्माराम हो जाता है, वह निरीह हो जाता है—उसकी सभी इच्छाएँ शान्त हो जाती हैं, उसके हृदय की सभी ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं, उसके सभी संशय विनष्ट हो जाते हैं। आत्मवित् समस्त शोक सागर का संतरण कर जाता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में रहस्यानुभूतिजन्य आह्लाद का बड़ा ही उदात्त वर्णन मिलता है। वहाँ बताया गया है कि किस प्रकार वह आनन्द अद्वितीय और सर्वोपरि है। मानुष आनन्द से शतगुण मनुष्यगन्धर्व का आनन्द, उससे शतगुण देवगन्धर्व का, उससे शतगुण अग्निष्वात्त-पितर का, उससे शतगुण आजानज देवों का, उससे शतगुण कर्मदेवों का, उससे शतगुण 'देवों' का, उससे शतगुण 'इन्द्र' का, उससे शतगुण बृहस्पति का, उसकी अपेक्षा शतगुण विराट् का, उससे शतगुण हिरण्यगर्भ का आनन्द है। ये सब आनन्द सातिशय आनन्द हैं। निरतिशय आनन्द रहस्यानुभूति का आनन्द है। वृहदारण्यक उपनिषद् ने बताया है कि इसी आनन्द की कणिका सांसारिक प्राणियों का उपजीव्य है। पर इसी अतुलनीय आनन्दानुभूति की तुलना करते हुए वृहदारण्यक के रहस्यदर्शी ने कहा है कि जिस प्रकार स्त्री से समलिंगित पुरुष यदि कुछ जानता है—तो आनन्द को—उससे अतिरिक्त अन्य किसी बाहरी और भीतरी भेद को नहीं। ठीक यही स्थिति रहस्यानुभूति की है—उस समय भी रहस्यानुभवी समस्त भेदों से ऊपर उठ जाता है और एकमात्र आनन्द की अनुभूति में मग्न होता है। तैत्तिरीय उपनिषद् में यह भी कहा गया है कि रहस्यदर्शी भय के मूल

1. किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्वच संप्रतिष्ठाः।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेष वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ।। श्वेताश्वतर 1।1

स्रोत भेदानुभव से ऊपर उठ जाता है—फलतः उसे भयानुभूति नहीं होती और जो निर्भय है—वही तो आनन्दमय है। इस प्रकार रहस्यदर्शी यह अनुभव करता है कि उसकी समस्त इच्छाएँ पूरी हो गयी हैं—वह 'पूर्णकाम' हो गया है।

उपनिषदों में ऐसे भी प्रसंग हैं जिनके प्रकाश में रहस्यमयी अनुभूति को विभिन्न आधारों पर विभिन्न वर्गों में प्रस्तुत किया जा सकता है। वे आधार हैं—रूप, रंग, ध्वनि एवं प्रकाश। रहस्यमयी यात्रा में जो आन्तरालिक अनुभूतियाँ हैं—वे भी विलक्षण प्रकार की हैं। ध्यान देने की बात है कि ऊपर रहस्यमयी अनुभूति के चरमरूप का विवरण दिया गया है जब कि सम्प्रति, मैं आन्तरालिक या रास्ते की रहस्यमयी अनुभूतियों की चर्चा करने जा रहा हूँ।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि जब योगी ब्रह्म का ध्यान करता है, तो उसे शुरू-शुरू में भिन्न-भिन्न रूप दिखायी देते हैं। कुहरा-सा, धुआँ-सा, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, बिजली, स्फटिक, चन्द्र—इनकी ज्योतियाँ दिखायी देती हैं। योग में ब्रह्मदर्शन से पहले-पहल ये रूप ब्रह्म को अभिव्यक्त करने के लिए होते हैं। ब्रह्म का इतना भारी प्रकाश है कि उसे सहने के लिए पहले ये प्रकाश दिखायी देते हैं ताकि योगी उस प्रकाश को झेल सके।[1] वृहदारण्यक (2।3।6) में कहा है कि समाधि अवस्था में उपासक को ब्रह्म का जो रूप दिखायी पड़ता है वह ऐसा है जैसे केसर के रंग से रँगा महावस्त्र हो, पाण्डुवर्ण का ऊन हो, वीर बहूटी की लालिमा की तरह, अग्नि की ज्वाला की तरह, श्वेत पुण्डरीक की तरह, एक बार की विद्युत् की कौंध की तरह। जो इस 'रहस्य' को जानता है, उसकी शोभा विद्युत् के एक सकृत् प्रकाश की भाँति हो जाती है। वृहदारण्यक एवं छान्दोग्य उपनिषद् में नादश्रवण का भी संकेत है। वहाँ कहा गया है कि मनुष्य के शरीर में अन्न का परिपाक करनेवाली एक वैश्वानर अग्नि है—उसी की आवाज कानों को बन्द करने पर सुनी जाती है। आगमिक साहित्य में नाद-श्रुति की विशेष प्रक्रिया मिलती है। यहाँ तो उसे बड़े ही स्थूल रूप में प्रस्तुत किया गया है।

औपनिषद् रहस्य के विषय में एक बात और शेष रह जाती है। वह बात है—मृत्यु के अनन्तर प्राण अथवा सोपाधिक आत्मा का रहस्यमय और अदृष्ट लोक-लोकान्तरों द्वारा उत्क्रमण। उपनिषदों में ब्रह्म या रहस्य की उपलब्धि के दो क्रम हैं—सद्योमुक्ति एवं क्रममुक्ति। पहले प्रकार की मुक्ति में क्रम का कोई सवाल नहीं है, पर दूसरे प्रकार की मुक्ति में लोक-लोकान्तरों द्वारा उत्क्रान्ति होती है—अन्ततः आत्मलय होता है। कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिनके द्वारा जीवात्मा कर्मानुसार विभिन्न लोकों में फलभोग करता हुआ पुनः अच्छी या बुरी योनि प्राप्त करता है—पर कुछ कर्म ऐसे भी हैं—जो ग्रन्थिच्छेदपूर्वक पुनरनागमन में निमित्त बनते हैं। इस परवर्ती शुक्ल कर्म द्वारा उत्तरोत्तर लोक-लोकान्तरों में उत्क्रमण करता

1. नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरस्सराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्ति कराणि योगे॥ श्वे. उप. 2।11

हुआ जीवात्मा क्रमपूर्वक स्वरूपलीन हो जाता है। कहा गया है कि प्राण रश्मियों से सम्बन्ध स्थापित कर लोक-लोकान्तर का गमन करते हैं। आगमिक साधन प्रक्रिया में इन लोकों को शरीरान्तर्गत ही मान लिया गया है और विभिन्न नामों से उनका निर्देश किया गया है।

इस प्रकार नैगमिक धारा के आरम्भ में पारमार्थिक एवं आन्तरालिक रहस्यमयी अनुभूति की प्रक्रियाओं का संक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत किया गया। सम्प्रति, आगमिक धारा में इसे और कितना एवं किन रूपों में विवृत किया गया है—यह देखना है। साधकों और चिन्तकों का विचार है कि तान्त्रिक साधना काफी पुरानी है, जो बहुत समय तक गुप्त चलती रही, बाद में चलकर उसका लेखबद्ध रूप में प्रकाशन हुआ। इस धारा में भी अक्रम एवं सक्रम ऊर्ध्वारोहण की रहस्यात्मक (आन्तरालिक एवं चरम) स्थितियाँ निरूपित हुई हैं और उन स्थितियों में प्राप्त अनुभूतियों का संकेत भी मिलता है। साथ ही साधना-क्रम से आन्तरालिक आरोहण की प्रक्रिया में विभिन्न रहस्यमय लोकों का भी उल्लेख किया गया है। पार्यन्तिक अनुभूति का भी संकेत यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। औपनिषद रहस्यवाद में जिज्ञासा और उसके कारण उसके समाधान में तत्पर वैचारिक-प्रवाह मात्रा में जितना अधिक मिलता है—उसकी तुलना में पार्यन्तिक अनुभूति का भावात्मक उद्गार या आन्तरालिक रहस्यमय आरोहणक्रम का 'शारीरिक' विवरण कम मिलता है। उत्तरोत्तर रहस्यवादियों में इन पक्षों से सम्बद्ध अनुभूतियों का रंग अधिक उभरने लगता है।

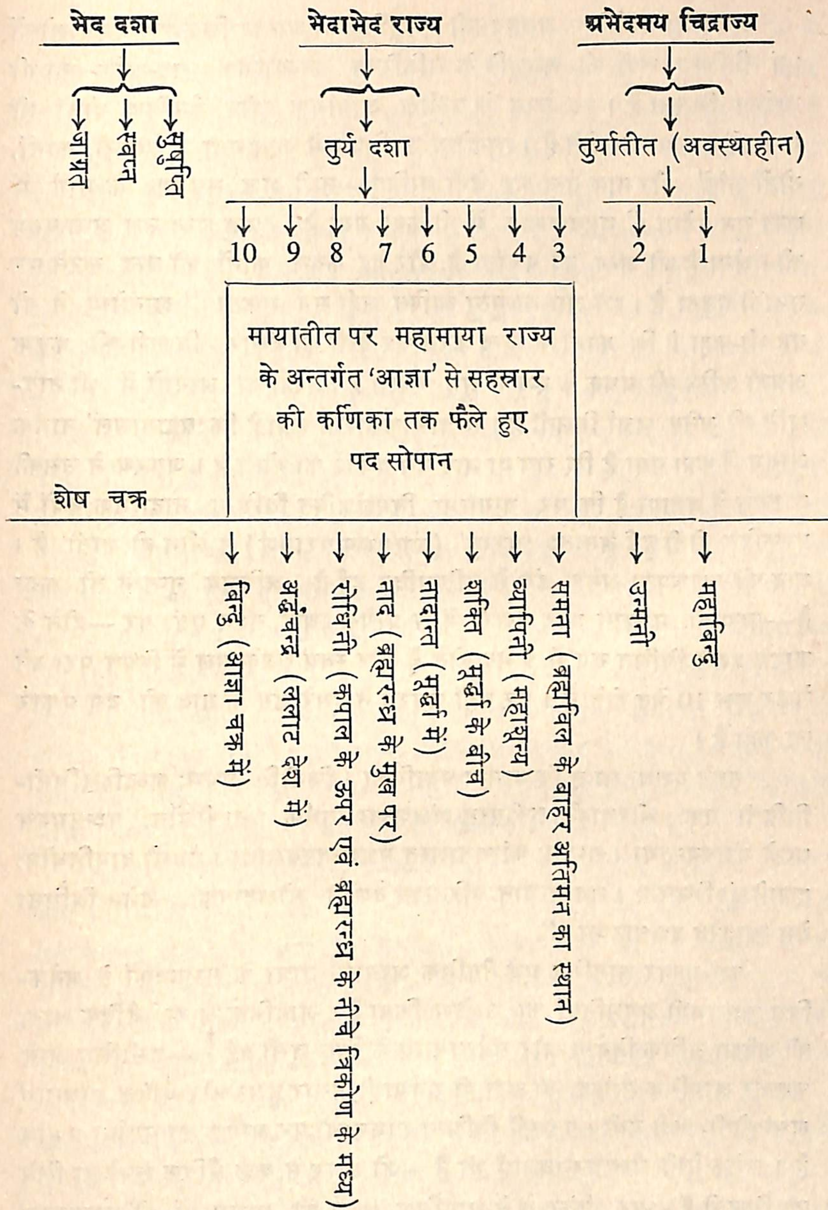
आगमिक चिन्ताधारा का विश्वकोष कहा जानेवाला तन्त्रालोक बताता[1] है कि 'वीरावलि' आगम में कहा गया है कि जब 'चित्त' चेत्य (ज्ञेय पदार्थ मात्र) मात्र को ग्रासीकृत करता हुआ चेतयिता (संवित्) में विश्रान्त हो जाता है—तब 'प्राण' एवं 'अपान' का प्रवाह 'मध्य धाम' में लीन हो जाता है—फलतः 'उदान' या जीव मध्यमार्ग से ऊर्ध्व संचार करता हुआ 'द्वादशान्त' में पहुँच जाता है—उस समय प्रमाण एवं प्रमेय का व्यवहार समाप्त हो जाता है—प्रमाता काष्ठाधिरूढ़ हो जाता है—यही आत्मबोध की स्वप्रकाशमयी चरम दशा है—इसी अवसर का जो 'अनुभव विशेष' है—वही मोक्ष है—यही 'रहस्य' का पार्यन्तिक अनुभव है। यहाँ 'बोध' और 'स्वातन्त्र्य' का सामरस्य अनुभूत होता है (दोनों का पार्थक्य ही 'बन्ध' है और अपार्थक्य 'मोक्ष')। औपनिषद धारा-वालों ने इस पार्यन्तिक दशा को 'आनन्दमय' कहा है—आगमिक भी आनन्दमय मानते हैं—पर उसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि वह दशा आनन्दमयी 'स्वातन्त्र्यात्मा' शक्ति से समरस 'बोधात्मक' शिव की दशा है। इसकी आनन्दात्मिका प्रकृति या अनुभूति को स्पष्ट करते हुए यह भी कहा है कि 'द्वादशान्त' का दूसरा नाम 'विसर्गान्त' भी है—इस तुर्यातीत चरम-भूमि में भैरवमुद्रानुप्रवेश

1. तन्त्रालोक—चतुर्थ आह्निक, 90वीं कारिका और उसकी टीका।

क्रम से समाविष्ट होकर साधक आनन्दानुभूति करता है। आनन्दानुभूति का कारण 'विसर्ग' दशा में विश्रान्ति है। 'विसर्ग' उस विन्दुदुयात्मक पारमेश्वर रूप का नाम है—जो विसिसृक्षात्मक माना गया है और जिन्हें संकोचविकासात्मक या सस्पन्द कहा गया है। दृष्टान्तपूर्वक अभिनवगुप्त एवं जयरथ ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि जिस प्रकार रासभी या वडवा (घोड़ी) मूत्र त्याग करते समय अपने वरांग का संकोच-विकास करती है और तन्मनस्क होकर उससे क्षणभर के लिए एक विशेष प्रकार का आनन्द प्राप्त करती है—ठीक उसी प्रकार साधक भी आनन्दधाम वरांग स्थानीय 'विसर्ग' दशा को जब पहुँचता है—तो उस शाश्वत स्पन्दशील (संकोच-विकासमय) 'स्वरूप' में विश्रान्ति लाभ करता है—फलतः आनन्दानुभव करता है।

इस प्रकार आणव उपाय द्वारा 'पर-पथ' से चलनेवाले साधक को 'पूर्णता' की ओर उन्मुख होते ही 'आनन्द' का अनुभव होने लगता है। पार्यन्तिक या 'पूर्णता' की दशा के अतिरिक्त आन्तरालिक आरोहण क्रम में कैसी-कैसी रहस्यात्मक अनुभूतियाँ होती हैं—इसका भी आगमिकों ने संकेत दिया है। कहा है कि 'पूर्णता' की ओर उन्मुख होने पर स्वतः आनन्द की अनुभूति होने लगती है। आनन्द के अनन्तर अनेकविध अनूभूतियाँ होती हैं—कम्प, भ्रमि, घूर्णि, प्लवन, स्थिरता, चित्प्रकाश, आनन्द दिव्य-दृष्टि एवं चमत्कृति। अन्ततः 'पूर्णता' की उपलब्धि हो जाने पर जो दसवीं स्थिति आती है—वह अवाच्य है। एक स्थान पर तो यह भी कहा गया है कि साधक लक्ष्य को हृत्कमल में अनेक रूपों में देखता है और अन्ततः वह 'बिन्दु' प्रकाशकुञ्ज के रूप में दृष्टिगोचर होता है।

परम धाम की ओर आरोहण करते हुए तान्त्रिकों ने और भी अन्यान्य आन्तरालिक रहस्यमय सोपानों की बात कही है। मध्यमार्ग में आरूढ़ जीवात्मा अनेकविध चक्रों का उत्क्रमण करता हुआ आज्ञाचक्र से लेकर सहस्रार की कर्णिका तक फैले हुए माया राज्य के बाहर और महामाया की सीमा के अन्तर्गत इन आठ पदों—बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना—को भी पार करता है। वस्तुतः इन आठ पदों में भी पाशजाल फैला हुआ है। पाशजाल से सर्वथा मुक्ति तुर्यातीत की 'उन्मनी दशा' में ही सम्भव है। चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है :



भेद दशा
भेदाभेद राज्य
अभेदमय चिद्राज्य
जाग्रत
स्वप्न
सुषुप्ति
तुर्य दशा
तुर्यातीत (अवस्थाहीन)
10 9 8 7 6 5 4 3 2 1
मायातीत पर महामाया राज्य के अन्तर्गत 'आज्ञा' से सहस्रार की कर्णिका तक फैले हुए पद सोपान
शेष चक्र
बिन्दु (आज्ञा चक्र में)
अर्द्धचन्द्र (ललाट देश में)
रोधिनी (कपाल के ऊपर एवं ब्रह्मरन्ध्र के नीचे त्रिकोण के मध्य)
नाद (ब्रह्मरन्ध्र के मुख पर)
नादान्त (मूर्द्धा में)
शक्ति (मूर्द्धा के बीच)
व्यापिनी (महाशून्य)
समना (ब्रह्मबिल के बाहर अतिमन का स्थान)
उन्मनी
महाबिन्दु

चरम या पार्यन्तिक आनन्दमयी अनुभूति तथा आन्तरालिक रहस्यमय लोकों एवं विभिन्न रूपों की अनुभूति के अतिरिक्त रहस्यात्मक नाद-श्रुति का भी उल्लेख मिलता है। इस तरह के उल्लेख आगमिक और नैगमिक दोनों ही धाराओं में उपलब्ध होते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है "दोनों कानों, दोनों आँखें और नाक बन्द कर देनी चाहिए—तभी शुद्ध सुषुम्णा के मार्ग में शब्द सुन पड़ेगा।" वृहदारण्यक में भी कहा गया है—"यह शब्द उस अन्त:पुरुष की गर्जना है जो अन्न को पचाता है और यह केवल कानों को बन्द करने पर सुनायी पड़ता है। इसे आसन्न-मृत्यु व्यक्ति नहीं सुन सकता।" छान्दोग्य ने तो यह भी कहा है कि कानों के बन्द करने पर बैलों की हुंकार, बिजली की कड़क अथवा अग्नि की धधक के रूप में सुन पड़ता है। तन्त्रों या आगमों में भी नाद-श्रुति की अनेक चर्चा मिलती है। तन्त्रालोककार ने कहा है कि 'ब्रह्मयामल' नामक आगम में कहा गया है कि राव या नाद दस प्रकार का होता है। जयरथ ने उसकी व्याख्या में बताया है कि पर वागात्मा विमर्शशक्ति विभिन्न नादात्मक रूपों में प्रस्फुरित होती हुई अन्ततः 'अराव' (आत्मरूप परामर्श) में लीन हो जाती है। नाद की दशरूपता अनेक ढंग से प्रतिपादित हुई है। अभिनव गुप्त ने तो कहा है—पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी में से प्रत्येक स्थूल, सूक्ष्म एवं पर—होने के कारण इनके मिलित रूप में 9 भेद होते हैं और स्वयं सबके मूल में स्थित परा को लेकर कुल 10 भेद होते हैं। पर वहीं जयरथ ने दूसरे ढंग से नाद को दस प्रकार का कहा है।

"नदते दशधा सा तु दिव्यानन्द प्रदायिका। चिनीति प्रथमः शब्दश्चिचिनी-तिद्वितीयकः चीरवाकी तृतीयस्तु शंखशब्दश्चतुर्थक.। तन्त्रीघोषः पञ्चमश्च षष्ठो वंशरवस्तथा। सप्तमः कांस्यतालस्तु मेघशब्दरवस्तथा। नवमो दावनिर्घोषः दशमो दुंदुभिस्वनः। नव शब्दान् परित्यज्य दशमो मोक्षदायकः। अनेन विधिना येन व्याहरेद् दशधारवम्।"

इस प्रकार आगमिक एवं नैगमिक अध्यात्म यात्रा के सम्पादकों ने अनेक-विध रहस्यमयी अनुभूतियों का उल्लेख किया है। आगमिक धारा वैदिक धारा की अपेक्षा अधिक निर्बन्ध और सर्वसामान्य के लिए खुली हुई है—इसीलिए आगे चलकर आगमिक साधना का बड़ा ही सर्वग्रासी प्रसार हुआ और वैदिक साधनाएँ लुप्त होती चली गयीं। परवर्ती विभिन्न साधनाओं पर आगम का पर्याप्त प्रभाव है। अनेक ऐसी वैष्णव साधनाएँ भी हैं—जो ऊपर से कुछ वैदिक रूपरेखा लिये हुए मिलती हैं—पर भीतर से वे आगमिक ध.रा की साधनाओं को आत्मसात् किये हुए हैं।

वैदिक या औपनिषद गुह्य साधकों के अनन्तर आंशिक प्रतिक्रिया में प्रवाहित होनेवाली बौद्ध धारा का हीनयानी रूप अवश्य आचार-प्रधान और उत्तान-साधना का था, पर उसके महायानी रूप में आगमिक साधनाएँ प्रविष्ट हो गयीं—'शक्ति' समन्वित साधना का सूत्रपात हो गया—'शक्ति' की ही विविध रूप में आराधना

आरम्भ हो गयी । अस्तु, साधना की दृष्टि से तो विशद विचार अगले अध्याय में किया जायगा—यहाँ तो इतना ही बताना है कि तान्त्रिक एवं रहस्यदर्शी बौद्ध सिद्धों की रहस्यमयी पार्यन्तिक एवं आन्तरालिक अनुभूतियाँ किस प्रकार की थीं ?

ऊपर दिया गया है कि पार्यन्तिक अनुभूति को आगमिक एवं नैगमिक दोनों ही धाराओं ने आनन्दमय बताया है और आन्तरालिक अनुभूतियों के सन्दर्भ में विविध नादों, रूपों एवं रहस्यमय लोकों का उल्लेख किया है । उपनिषदों में आत्मानुभूति की आनन्दमयता को समझाने के लिए अप्रस्तुत रूप में पुरुष एवं स्त्री के संपरिष्वंग-जन्य आह्लाद को प्रस्तुत किया गया है, पर आगमिक धारा में आनन्दमय आत्मानुभूति को जिन दो तत्त्वों की समरस दशा के रूप में कहा गया है—उन्हें स्वयं स्त्री एवं पुरुष तत्त्व के रूप में निरूपित किया गया है । बौद्ध सिद्धों की 'युगनद्ध' (प्रज्ञा और उपाय, शून्यता और करुणा को तादात्म्यापन्न रूप) कल्पना भी उसी धारा की वस्तु है । उन्हें भी प्रज्ञा और उपाय की समरस दशा का सुख 'महासुख' जान पड़ा है । वज्रयानियों और सहजयानियों के यहाँ प्रज्ञा एवं करुणा का सामरस्य 'बोधिचित्त' की अभिव्यक्ति का निमित्त है— यह बोधिचित्त 'महासुख' मय है—जिसके लिए गुह्य साधना की जाती है । शशिभूषणदास गुप्ता ने कहा है —"Shunyata and Karuna, the two elements to be united together for the production of the Bodhi Chitta, were identified with the female and the male of Prajna and Upaya. Bodhi Chitta is conceived as the extremely blissful state of mind produced through the sexo-yogic practice."[1] रहस्यदर्शी सिद्धों ने इस महामुद्रा साधना-जन्य 'महासुख' की अनुभूति का अनेकधा वर्णन किया है।

आन्तरालिक रहस्यमयी अनुभूतियों, विविध भूमियों एवं लोकों के विवरण यहाँ भी मिलते हैं—। इनके यहाँ आध्यात्मिक संचरण का क्रम उत्तरोत्तर इस प्रकार विकसित होता गया है—पृथग्जन→कल्याणमित्र या गुरु की कृपा से—स्रोतापन्न →सकृदागामी→अनागामी→अर्हत्→प्रत्येक बुद्धत्व→बुद्धत्व । हीनयानी क्लेशावरण की निवृत्ति से अर्हत् हो जाता था और अन्ततः 'निर्वाण' से वैयक्तिक रूप में समस्तविध क्लेशों से छुटकारा पा जाता था । महायानी 'क्लेशावरण' एवं 'ज्ञेयावरण' की निवृत्ति से स्वयं तो 'महाबोधि' या 'बुद्धत्व' लाभ करता ही था—अन्य पृथग्जनों को भी बुद्धत्व प्रदान कर सकने की क्षमता रखता था । बौद्ध धर्म ने जन तान्त्रिक परिणति ली— तब महायानियों की 'शून्यता' 'वज्र' हो गयी—'शून्यता वज्रमुच्यते' और सहजयानियों के यहाँ 'शून्यता करुणाभिन्न बोधिचित्तं तदुच्यते' जो 'बोधिचित्त' महासुख रूप कहा गया है । इन लोगों का कहना है कि 'बिन्दु' ही 'बोधिचित्त' की संवृत दशा है। विशिष्ट प्रक्रिया से जब उसका निर्माण चक्र, धर्म चक्र, सम्भोग चक्र एवं उष्णीष या महासुख चक्र में क्रमशः उत्थापन होता

1. Obscure Religious Culture, Page 27.

है—तब विविध मात्राओं का आनन्द आन्तरालिक यात्रा में उपलब्ध होता है। इनके लिए वे आनन्द, विरमानन्द, परमानन्द एवं सहजानन्द—शब्दों का प्रयोग करते हैं।

आन्तरालिक अनुभूतियों में इन विविध मात्रा के आनन्दों के अतिरिक्त हीनयानियों के यहाँ शील, समाधि एवं प्रज्ञा द्वारा कामलोक, रूपलोक एवं अरूपलोक की विविध भूमियाँ पार करनी पड़ती हैं। इस क्रम में समाधि या ध्यान द्वारा जहाँ एक ओर अनेक रूपों में ध्येय लक्ष्य का अनुभव होता है—वहाँ दूसरी ओर 'रूपलोक' एवं 'अरूपलोक' की साकार एवं निराकार लोक-समष्टियों का उत्क्रमण भी होता है—जो साधक व्यक्तिमात्र की अनुभूति का विषय होने से रहस्यमय ही कहा जायेगा। महायान में भी 'प्रमुदिता' से 'धर्ममेध्या' तक दश भूमियाँ पार करनी पड़ती हैं। वज्रयान एवं सहजयान में सांवृतिक बोधिचित्त को सब चक्रों का उत्क्रमण करना पड़ता हैं—तब कहीं पार्यन्तिक महासुख की दशा आती है।

नाथ सिद्धों का कहना है कि गुरुकृपा से जब 'निरुत्थान दशा' या समाधिगत दार्ढ्य की दशा उत्पन्न होती है—तभी 'पिण्ड' एवं 'पद' का 'समरसीकरण' होता है। यह 'परमपद' जिससे 'पिण्ड' का समरसीकरण होता है—'स्वसंवेद्य' एवं सबका भासक कहा गया है। महासिद्ध योगी जब स्वरूप का अनुसन्धान करता है— तब उसे 'निजावेश' होता है—आत्मस्मृति हो आती है। फलतः वह समाधिमग्न हो जाता है। इस समाधि दशा में अनिर्वचनीय महानन्दमय अवस्था की अनुभूति होती है। इससे जो प्रकाश उद्दीप्त होता है—उससे समस्त भेद तिरोहित हो जाते हैं। इस स्थिति में योगी को ऐसा अनुभव होता है कि यह समस्त दृश्यमान जगत 'परमपद' ही है, 'पिण्डादि' सभी 'परमपद' मय ही हैं—उससे भिन्न कुछ है ही नहीं। यही पार्यन्तिक रहस्यानुभूति इन नाथ सिद्धों के यहाँ कही गयी है।

आन्तरालिक 'उपाय' दशा की अनेकविध रहस्यमयी अनुभूतियाँ यहाँ कही गयी हैं। उदाहरणार्थ, रासायनिक प्रक्रिया से देह-सिद्धि (सिद्ध-देह, दिव्य-देह) होने पर रहस्यमय देहों की उपलब्धि होती है। नवचक्रों के भेद करते समय भी साधक विशेष अनुभव करता है। पिण्ड-गत नाद-श्रवण तो प्रसिद्ध ही है। नाथों का कहना ही है कि पिण्ड के अन्तर्गत ही समस्त ब्रह्माण्ड का दर्शन होता है।

इस प्रकार नैगमिक और आगमिक धारा की रहस्यानुभूतियों के पार्यन्तिक और आन्तरालिक रूपों के अनुशीलन से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है—उनकी पार्यन्तिक अनुभूति चिदानन्दमयी है। आन्तरालिक यात्रा में विभिन्न प्रकार के नाद और रूपों का श्रवण और दर्शन होता है—विभिन्न रहस्यमय लोकों का साक्षात्कार होता है, नाड़ी और चक्र के माध्यम से जीव की रहस्यमयी ऊर्ध्व यात्रा मिलती है। मध्यकालीन हिन्दी के सन्त कवियों में ये सभी रहस्यानुभूतियाँ तो विभिन्न (बाहरी) नाम रूपों में मिलती ही हैं—एक विशेष और सर्वातिशायी स्थिति उपास्य के प्रति विह्वल मनोदशा की भी मिलती है। उपास्य के प्रति इन रहस्यमय भावात्मक उद्गारों का जो स्तूपीभूत रूप सभी साहित्य में

उपलब्ध होता है—उसके अंकुरण एवं पल्लवन की संक्षिप्त रूपरेखा भी देख लेनी है।

रागात्मक-उपासना (भक्ति) की उर्वर भूमि 'नैगमिक' की अपेक्षा 'आगमिक' अधिक है। सन्तों में जो रहस्यमय 'भावभूमि' मिलती है—उसके विकास का सूत्र एक तरफ बौद्ध सिद्धों और नाथों में है—तो दूसरी ओर पाञ्चरात्र-आगम, तदनुसारी शाण्डिल्य भक्तिसूत्र, नारद भक्तिसूत्र, एवं भागवत के प्रभाव में अंकुरित होनेवाली दक्षिणापथ की वैष्णव भक्ति धारा में भी। तमिलनाड के वैष्णव आलवारों में जो भक्तिभावना थी—कबीर की आत्मा उसकी भी ऋणी है—'भगती उपजी द्राविड़ी'। वे नारदी-भक्ति के भी ऋणी हैं 'भगति नारदी मगन सरीरा'। साथ ही कन्नड़ के नायनमार शैवसन्तों से भी उनके स्वर का मेल है। बौद्ध सिद्धों और नाथों को हमारे आलोचकों ने हृदय शून्य कहा है और इसीलिए यह बताया है कि कबीर आदि सन्तों में और सबकुछ तो बौद्ध सिद्धों और नाथों से आया—पर 'प्रेम' तत्त्व वहाँ बिल्कुल नहीं था। वे 'सिद्ध' श्रद्धा एवं विश्वासहीन थे, उनमें हृदय-पक्ष का सर्वथा अभाव था। यह ठीक है कि भक्ति का जितना जोरदार एवं व्यापक स्वर सन्तों का है—उतना सिद्धों एवं नाथों का नहीं है। पर इसके साथ ही साथ यह मान लेना कि उनमें श्रद्धा, विश्वास, भक्ति से संवलित हृदय-पक्ष सर्वथा है ही नहीं—सर्वथा अयुक्तिसंगत और अग्राह्य है, हेवज्रतन्त्र में बौद्धों सिद्धों का स्पष्ट उद्घोष है—'रागेणैव विमुच्यते'—महाराग ही मुक्ति का सहज साधन है, वैराग्य नहीं। उन लोगों का यह भी सिद्धान्त है—"सद्गुरुः शिष्ये रति स्वभावे महासुखं तनोति"—सद्गुरु शिष्य में रागात्मक स्वभाव के सहारे ही 'महासुख' की अभिव्यक्ति करता है। फलतः 'गुरु' की यहाँ नितान्त महत्ता है। सिद्धों एवं नाथों—दोनों ने ही गुरु का 'युगनद्ध' रूप स्वीकार किया है। बौद्ध सिद्धों ने प्रज्ञा एवं उपाय का मिलित रूप ही 'युगनद्ध' या गुरु रूप माना गया है। नाथों ने भी कहा है कि गुरुभक्तिलभ्य गुरुकृपा के बिना उस 'निरुत्थानदशा' की उपलब्धि नहीं होती—जिससे 'पिण्ड-पद-सामरस्य' या 'सहजावस्था' मिलती है। इस तरह की बात माननेवाले बौद्धों एवं नाथ सिद्धों को हृदयशून्य कहा जाय—यह ठीक नहीं। बौद्ध सिद्धों की (महामुद्रा की) साधना बंगाल की तरफ पालवंश तक निर्विघ्न चलती रही, पर वैष्णव धर्मानुयायी सेनवंशियों के आधिपत्य में उस साधना ने वैष्णव रूपान्तर प्राप्त कर लिया और उसके साधक वैष्णव सहजिया हुए। प्रसिद्ध वैष्णव सहजिया चण्डीदास ने बौद्ध सिद्धों की 'महामुद्रा' की भाँति 'रामी' धोबिन को साधन बनाया था और भौतिक काम का दिव्यीकरण किया था। आगमिक धारा 'द्वयात्मक अद्वय' तत्त्व को ये लोग राधाकृष्ण के एकात्मक 'परम प्रेममय' रूप के रूप में मानते थे—और उसी को अन्तिम प्राप्य समझते थे। इस प्रकार उस समय भारत की देशव्यापी साधना पर आगमिक बौद्ध सिद्धों एवं नाथों का योगपक्ष तथा आगमिक वैष्णवों का 'राग' पक्ष एकमेक होकर फैल रहा था। मराठी सन्तों पर भी

यह प्रभाव देखने योग्य है। निष्कर्ष यह कि मध्यकालीन हिन्दी सन्तों की धारा से पूर्व विविध रहस्यमयी प्रवर्तियों से संवलित 'भक्ति' का प्रवाह सर्वातिशायी रूप में उमड़ रहा था। 'राग' का आलम्बन अवश्य भिन्न-भिन्न विषय हैं—और उन विभिन्न विषयों के बीच 'गुरु' को आलम्बन बनाकर भी प्रेम-गीत लिखे गये हैं। 'वाउल' एवं 'सूफियों' में ऐसे पद मिलते हैं। हिन्दी-सन्तों के राग का तो मुख्य आलम्बन ही 'गुरु'[1] हैं। इसलिए इन लोगों में रहस्यात्मक अन्यविध परम्परागत अनुभूतियों के साथ-साथ राग-विह्वल स्वर भी सुनायी पड़ता है।

हिन्दी की मध्यकालीन भक्तिधारा सामान्यतः निर्गुण धारा एवं सगुण धारा-जैसी दो उपधाराओं में प्रवाहित मानी गयी है। निर्गुण धारा के अन्तर्गत भी एक कबीरदास द्वारा प्रचलित निर्गुनिये सन्तों की शाखा है और दूसरी ओर सूफी सन्तों की। सगुण धारा में भी गोस्वामी तुलसीदास की रामाश्रयी धारा यदि एक ओर है—तो दूसरी ओर कृष्णाश्रयी धारा। प्रथम दो धाराओं को तो लोग निर्विवाद रहस्यवादी मानते हैं—पर सगुण धारा भी रहस्यवादी प्रवृत्तियों से अछूती नहीं रही। उसमें 'माधुर्यभाव' का ज्यों-ज्यों प्रवेश होता गया—रहस्यमयता बढ़ती गयी। 'माधुर्यभाव' का प्रवेश न केवल कृष्णाश्रयी शाखा के ही भक्तों में हुआ, प्रत्युत रामाश्रयी शाखा के भी परवर्ती भक्तों में बड़ी ही तेज़ी से हुआ। इस प्रकार इन सभी धाराओं में 'राग' का स्वर मुखरित हो रहा है।

यदि एक ओर कबीर आदि सन्तों का उद्घोष है—'भक्तिविमुख जे धरम ताहि अधरम करि मान्यो'—अर्थात् 'भक्ति' ही उनकी मूल साधना है तो जायसी आदि सूफियों का दूसरी ओर यह रोना है—

पिउ हिरदय महँ भेंट न होई।
को रे मिलाव कहौं केहि रोई?

इन शब्दों में उन्होंने प्राप्य तत्त्व को 'मानस-प्रिय' के रूप में देखा है—इस स्थिति में उनकी भी उपासना पद्धति प्रेमात्मक ही है। सगुण भक्तों में तुलसीदास जैसे कतिपय मर्यादावादी रामभक्त भले ही 'दास्य-भाव' के उपासक हों—पर परवर्ती 'रसिक-सम्प्रदाय' स्पष्ट ही माधुर्यभाव का उपासक है। कृष्ण भक्तों में भी आरम्भ में चाहे 'वात्सल्य' या 'सख्यभाव' की उपासना रही हो—पर वहाँ भी कैशोरभाव की उपासना गुप्तभाव से चलती रही। सहजिया वैष्णव तथा परकीया-भाव के राग को महत्त्व देनेवाले चैतन्य सम्प्रदाय के सम्पर्क से 'हित सम्प्रदाय' और 'हरिदासी सम्प्रदाय'—में भी 'माधुर्यभाव' का रंग उत्तरोत्तर निखरता ही गया है।

इस रागमयी साधना का आलम्बन इन शाखाओं में वैयक्तिक रुचि और संस्कार-भेद के कारण अवश्य भिन्न है—परन्तु अन्ततः सर्वत्र 'माधुर्य' साधना का साध्य उपास्य और उपासक के सामरस्य में ही है। निर्गुनियों में जीवात्मा

1. "मेर नाहि गुरुदेव मुरार"—नानक वाणी, गूजरी, अष्टपदी–2

और परमात्मा का, सूफियों में 'आलमे-नासूत' से 'आलमे लाहूत' का तादात्म्य तो सुप्रसिद्ध है ही। कृष्णाश्रयी शाखा में भी अन्ततः अन्तरंगाह्लादिनी शक्तिमयी राधा रसमय कृष्ण से समरस ही तो मानी गयीं। रामभक्ति की रसिकधारा में भी यही स्थिति चरम परिणति के रूप में लक्षित होती है। **सगुण एवं निर्गुण रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ—दोनों धाराओं की तुलना—**

अध्यात्म-साधना 'श्रद्धा' एवं 'विश्वास' के सहारे चलनेवाली वस्तु है—बौद्धिक निर्णयों या तर्कों के सहारे नहीं। वह 'श्रद्धा' और 'विश्वास' ही किस प्रकार साधक के मन ग आ जाते हैं – कहना कठिन है। सम्भवतः वे अनुरूप अज्ञात संस्कारों एवं पारमेश्वर अनुग्रह से परिचालित होते हैं—इसीलिए अध्यात्म-मार्ग अपने 'प्रवर्त्तन' काल से लेकर 'सिद्धि' तक रहस्यमय ही माना जाता है – अतर्कगम्य कहा जाता है। 'प्रवर्त्तन' से 'सिद्धि' तक व्याप्त साधना बाह्य भी होती है और आन्तर भी। साधना का बाह्य रूप सबके समक्ष प्रकट होता है—पर आन्तर रूप—जो बाह्य साधना की अपेक्षा नितान्त महत्त्वपूर्ण माना गया है सबके समक्ष प्रकट नहीं होता। साधना बाह्य की अपेक्षा जब आन्तर एवं व्यक्तिगत होने लगती है—तब उसे 'गोप्य' या 'गोपनीय' समझा जाता है—रहस्य कहा जाता है। कदाचित् यही कारण है कि विवेचकों ने उन्हें ही रहस्यवादी कहना चाहा है जिन लोगों ने शरीर के अन्तर्गत ही 'साधना' से 'सिद्धि' तक सबकुछ प्राप्त कर लिया है। ये रहस्यवादी 'पिण्ड' एवं 'ब्रह्माण्ड' को एक ही मानते हैं, अतः घट के ही भीतर अनेक अप्राकृत एवं जटिल 'सहज' प्रक्रियाओं द्वारा अपने उपास्य को पा लेते हैं। ज्ञानाश्रयी शाखा के सन्तों एवं सूफियों – दोनों में ही 'घट' के भीतर उपास्य से सम्मिलन की बात मानी गयी है और उनके साहित्य में शरीर के भीतर ही किये जानेवाले जटिल अभ्यासों, गुह्य प्रक्रियाओं का उल्लेख मिलता है। सगुण धारावालों की भी साधना अध्यात्म साधना ही है – पर उनकी साधना का जितना पक्ष श्रुति एवं समाज से अनुमोदित है—उतना तो बाह्य है—फलतः उसमें कोई गुह्यता नहीं है – पर जब 'सगुण' के 'ऐश्वर्य' रूप की साधना से ऊपर 'माधुर्य' की साधना आरम्भ होती है—तो राग-विह्वल साधक, समाज की मान्यताओं से निरपेक्ष होने लगता है—फलतः उसकी साधना में 'गुह्यता' का समावेश होने लगता है। मधुराचार्य ने अपने 'सुन्दरमणि सन्दर्भ' में बहुत ही ठीक कहा है कि उपास्य में दो मुख्य गुण होते हैं – परत्व (ऐश्वर्य) और सौलभ्य (माधुर्य)। प्रथम रूप के सगुण उपासकों की भक्ति वैधी है और द्वितीय रूप के उपासक की रागात्मिका भक्ति। इन लोगों की मान्यता है कि 'भाव' के उदय होने तक यह 'विधि-भक्ति' चलती है। दूसरे रूप की साधना आन्तर साधना है। इसे 'परमगोपनीय' या 'रहस्यतम' कहा गया है।

इस प्रकार निर्गुण धारावालों की भाँति सगुण धारावालों की भी भाव-साधना या रस-साधना आन्तर और रहस्यमयी साधना है—पर इस साम्य के साथ कुछ दूर तक वैषम्य भी मिलता है। उदाहरण के लिए जिस प्रकार निर्गुनिये

सन्तों ने पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड की एकरूपता स्वीकार कर सभी प्राप्य लोकों (सत्य-लोक-दयालदेश आदि) का अस्तित्व घट के भीतर माना है और अनेकधा वर्णित भी किया है—वह स्थिति सगुण भक्तों में नहीं मिलती। उनके 'धाम' माया राज्य के पार, 'विरजा' से भी ऊपर अवस्थित हैं, उनके 'धाम' में अप्राकृत देह से ही प्रविष्ट हुआ जाता है—भावदेह से ही जाया जा सकता है—पर निर्गुनियों के यहाँ ऐसा कुछ नहीं है—उनकी 'सुरत' इसी काया में सभी लोकों का भ्रमण कर आती है। वैसे कबीर ने भी पञ्चविध काया की बात कही है। हाँ, रीतिकालीन एक देवदत्त कवि ने कुछ ऐसी बातें कही हैं – जो इस भेदक रेखा पर प्रश्नचिह्न खड़ा करती हैं—बात इस प्रकार है—

"हौं ही ब्रज, वृंदावन मोंहीं में बसत सदा,
जमुना तरंग स्याम रंग अवलीन की।
चहूँ ओर सुन्दर सघनवन देखियत,
कुञ्जन में सुनियत गुंजन अलीन की।
वंशीवट-तट नटनागर नटत मों में,
रास के विलास की मधुर धुनि बीन की।
भर रही भनक वनक ताल तानन की,
तनक तनक तामें खनक चुरीन की।"

इसके साथ-साथ अन्य 'रसिक' साहित्य के मनीषियों ने भी वन-वृन्दावन, मन-वृन्दावन एवं नित्य-वृन्दावन की बात की है। इनके मन-वृन्दावन का भी अभिप्राय घट के भीतर के वृन्दावन का ही है। निष्कर्ष यह कि यदि कवि की उक्ति मानकर देव की उपेक्षा भी कर दें— तो भी मन-वृन्दावन-जैसे उल्लेख 'घट' के भीतर के आध्यात्मिक स्थान या धाम का समर्थन करते ही हैं, तथापि दोनों धाराओं में इस तरह की स्थितियों और विवरणों में तारतमिक अनुपात का अन्तर तो है ही। कृष्णभक्ति शाखा की भाँति रामभक्ति-शाखा में भी 'आलवारों' से रामानन्द तक गुप्त रूप में, रामानन्द से अग्रदास तक स्फुट रूप में तथा बाद में उत्तरोत्तर स्फुटतर रूप में यह 'रस-साधना' गुह्यसाधना के रूप में मिलती है। इतना निश्चय है कि ऐतिहासिक क्रम से कृष्णभक्ति धारा में यह 'रागात्मिका' साधना पहले प्रकट हुई है। वैष्णवों में रामानुजाचार्य तथा मध्व में 'ऐश्वर्य' रूप की उपासना का प्राधान्य है, पर वल्लभ एवं निम्बार्क में 'माधुर्य' (कैशोरभाव का) भाव की उपासना अन्य विध (वात्सल्य, सख्य) साधनाओं के बावजूद उभरने लगती है। आगमिक गुह्य साधनाओं से रागात्मक साधनावाले चैतन्य, राधावल्लभीय, हरिदासी सम्प्रदाय की रस-साधनाएँ और प्रभावित होती हैं—फलतः अन्य रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ भी उदित होने लगती हैं। घट के भीतर ही वृन्दावन की कल्पना इसी सम्पर्क की परिणति है। कविवर पद्माकर सगुणोपासक होकर भी साधनात्मक रहस्यवाद की चर्चा करते हैं।

इसके अतिरिक्त निर्गुनिये सन्तों में नाड़ी एवं चक्रों की जो दूसरी गुह्य-मार्गी

प्रवृत्ति है—उससे प्रभावित होकर यहाँ इन रस-साधकों के यहाँ भी हृदयस्थ द्वादशकमलवाले चक्र के अतिरिक्त 'अष्टदल कमल' की कल्पना की गयी और बताया गया कि अष्टदल कमल में 'बिन्दु' या केन्द्र 'महाभाव' है—पर अन्य दल उसी की विभिन्न शक्तियाँ हैं। इन्हीं की अष्ट सखी के रूप में कल्पना है। साधक 'भाव-देह' से 'आवर्त्तक्रम' द्वारा प्रत्येक दल से होता हुआ 'महाभाव' या 'रस' दशा को प्राप्त करता है। निष्कर्ष यह कि सगुण धारा में भी विभिन्न तान्त्रिक साधनाओं के सम्पर्क से ये सब रहस्यवादी प्रवृत्तियाँ उदित होने लगीं। पर तार-तमिक अनुपात की दृष्टि से नाड़ी—एवं चक्र की रहस्यमयी प्रवृत्ति भी एक भेदक रेखा हो सकती है।

समान रहस्यवादी प्रवृत्तियों में मूर्धन्य और उल्लेखनीय तत्त्व है—रागात्मक साधना—सहज साधना। नैगमिक धारा में ज्ञान एवं कर्म मार्ग का और आगमिक धारा में 'भक्तिमार्ग' का प्रामुख्य है। यदि एक ओर अपने को वैष्णव मानकर भी सिद्धों एवं नाथों तथा अन्य आगमिक धाराओं से अपना अधिक सम्बन्ध जोड़ने-वाले निर्गुनिये भी 'रागात्मक' साधना को ही अपनी केन्द्रीय साधना बताते हैं तो दूसरी ओर पाञ्चरात्र एवं भागवत प्रतिपाद्य वैष्णव साधना धारा से अपना अधिक निजी सम्बन्ध जोड़नेवाले सगुण धारा के कवि भी अन्ततः 'रस-साधना' या 'माधुर्य-साधना' की ओर ही निमग्न होते चले जाते हैं। बंगाल और उड़ीसा के वैष्णव साधकों पर पाञ्चरात्र, शाक्त तन्त्र एवं बौद्ध साधना प्रणालियों का विशेष प्रभाव है—फलतः इनकी गुह्य प्रवृत्तियाँ उनमें भी संक्रान्त हुईं। व्रज या वृन्दावन में अन्य कृष्णोपासकों की साधनाएँ भी इनसे प्रभावित हैं। रामाश्रयीधारा में भी जो रसिक साधना की गुप्त-प्रकट धारा है—उस पर भी आगमों का पर्याप्त प्रभाव है। यही कारण है कि इस धारा के साधकों ने 'रामनाम' की आगमो-न्मुखी व्याख्या प्रस्तुत की। कहा गया है कि रास मण्डल की नित्यस्थली में जीवात्मा और परमात्मा का जो लीला विहार है—वही रामनाम का तात्पर्य है (प्रेमभक्ति ब्रह्म गीता)। निर्गुनियों की भाँति ये लोग भी मानने लगे कि जीवात्मा और परमात्मा की स्थिति मानव-मन में ही है। उसके ऊपर क्रमशः अनक्षर तथा महाशून्य का स्थान है—वहीं से निरन्तर नामामृत का क्षरण होता रहता है। अस्तु, तो मैं कह यह रहा था कि निर्गुण एवं सगुण—दोनों ही धाराओं में 'रागात्मक' साधना का ही स्रोत प्रवाहित हो रहा है—जो बराबर गोप्य माना गया है। एक बात यह भी लक्ष्य करने की है कि इस गुह्य रस-साधना या भावमार्ग में साधक के व्यक्तिगत भेद से वैविध्य भी है। ऊपर से समान लगते हुए भी और तत्त्वतः रागात्मक होते हुए भी वल्लभाचार्य की पुष्टि-भक्ति, गौड़ीय रागानुगा-भक्ति तथा अन्य सम्प्रदायों की प्रेमलक्षणाभक्ति में कुछ अन्तर भी है। म. म. कविराज का कहना है कि सन्दर्भ में हम 'भक्ति' के जिस रूप की चर्चा कर रहे हैं—वह भक्ति 'चित्त का भावमय प्रकाश' है—और इसका उद्गम 'आगम' ही है। उन्होंने इसका एक और भी कारण बताया है और वह यह कि 'भक्ति' मार्ग

में 'शक्ति' का स्वीकार करना आवश्यक है। 'शक्ति' के विशुद्ध तथा निर्मल स्वरूप के स्वीकार न करने से ईश्वर, जीव और जगत तथा उनका परस्पर सम्बन्ध सभी अज्ञान कल्पित होने के कारण हेय हो जाते हैं। भक्ति, करुणा और कर्म का आदि स्रोत सूख जाता है।

सगुण एवं निर्गुण धारा के इन 'सहज' साधकों या 'रस-साधकों' की एक अतिरिक्त समानता इस बात में मिलती है कि इनका 'सहज' या 'रस'—दो तत्त्वों का समरस रूप हैं—वे दो तत्त्व चाहे 'राधा' और 'कृष्ण' हों, 'मौज' और 'मालिक' हों, 'राम' और 'सीता' हों, अथवा 'आलमेनासूत' और 'आलमे लाहूत' हों। द्वयात्मक अद्वय की उपलब्धि इन सबकी समान विशेषता है, इसीलिए कविराजजी का यह कहना कितना युक्तिसंगत जान पड़ता है कि "शैव, वैष्णव अथवा शाक्त आगमों में जो अद्वैतवाद है—वह भक्तिसाधना तथा रस-साधना का विरोधी नहीं है—क्योंकि वह शक्ति-त्यागमूलक नहीं है।"

रहस्यमय माधुर्योपासकों की अगली यह समान विशेषता लक्षित होती है कि वासना या राग को कृच्छ्राचार द्वारा दमित, शमित और उपेक्षित करने के बदले उसका शोधन एवं दिव्यीकरण करके सहज ही सहज स्थिति को प्राप्त कर लेना। निर्गुण एवं सगुण—दोनों ही धाराओं में यह स्थिति समान रूप से लक्षित होती है। हाँ, यह अवश्य है कि शोधन और समुन्नयन तथा दिव्यीकरण की प्रणालियाँ और क्रियाएँ अपनी पृथक्-पृथक् हैं। दोनों ही धाराओं में जो प्रेम-पूरित उद्गार लक्षित होते हैं—उनसे यह नितान्त स्पष्ट है कि ये साधक किस प्रकार 'जड़' से हटाकर वासना या राग को 'चिन्मुख' किये हुए हैं और इस प्रकार 'राग' गत जड़-सम्पर्क-जन्य मालिन्य को हटाकर उसमें सात्त्विकता और निर्मलता लाते हैं। सात्त्विक और निर्मल 'राग' हलका होकर जड़त्व-सम्पर्कज-गुरुता को छोड़ता हुआ ऊर्ध्व संचार करता है—चिद्रंजित हो जाता है। अन्ततः इसकी (राग की) परिणति 'रासो वै सः' की भूमिका में होती है।

मध्यकालीन साधकों की उपर्युक्त दोनों धाराओं में जहाँ ये सब साम्य एवं वैषम्य की विभिन्न भेदक और ऐक्य-सम्पादक विभिन्न विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं—वहाँ एक साम्य घट के भीतर या बाहर विभिन्न 'धामों' एवं 'लोकों' की कल्पनाएँ भी विभिन्न विशेषताओं के साथ उपलब्ध होती हैं।

इस सैद्धान्तिक चर्चा के अनन्तर प्रायोगिक रूप में उपलब्ध निर्गुन एवं सगुण धारा की रहस्यवादी प्रवृत्तियों और अनुभूतियों का विवेचन अवसरोचित प्रतीत होता है। इन लोगों की रहस्यात्मक अनुभूतियों को तीन खण्डों में विभाजित करके निरूपित किया जा सकता है—जो इस प्रकार हैं— (1) पार्यन्तिक (चरम अनुभूति) (2) आन्तरालिक तथा (3) आरम्भिक। पार्यन्तिक अनुभूति के लिए निर्गुनिये सन्तों में सहज-समाधि, उन्मनी दशा, तुर्य दशा आदि शब्द प्रयुक्त किये गये मिलते हैं—सूफियों के यहाँ इस अवस्था को हाल या अहवाल की दशा कहा गया है। सगुणभक्तों की रहस्यमयी माधुर्य-साधना की चरम परिणति उपास्य एवं

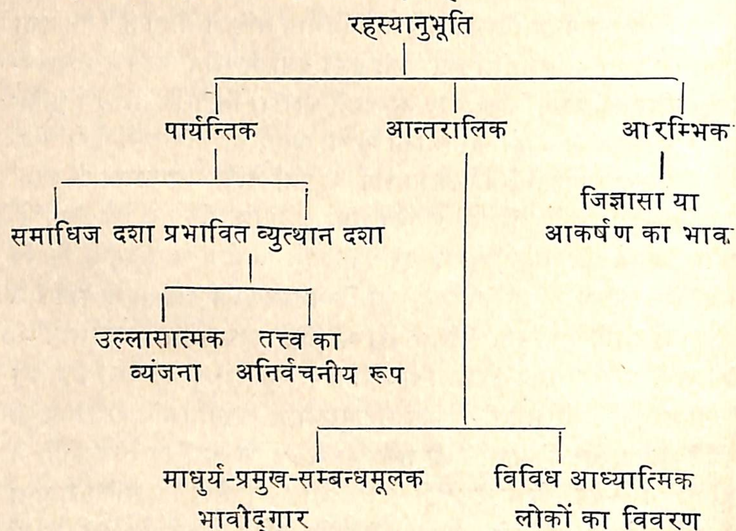
उपासक की 'रसमय' समरस दशा है। वैष्णव दार्शनिक आचार्यों ने पार्यन्तिक दशा को मुक्ति नाम देकर सायुज्य सार्ष्टि, सारूप्य एवं सालोक्य-जैसे विविध रूपों में निरूपित किया है। विशिष्टाद्वैतवादियों ने चरम दशा में जीवात्मा और परमात्मा के भेद का आत्यन्तिक विगलन स्वीकार नहीं किया है—इन लोगों ने माना है कि "भगवत् पारतन्त्र्य ही भगवदंगभूत आश्रित जीव के लिए स्वाभाविक अवस्था है—वह पूर्णानन्दमय मुक्तभाव है—एवं साधनमात्र का चरम लक्ष्य है।" निम्बार्काचार्यों का कहना है कि 'भगवद्-भावापत्ति' या 'प्रत्यगात्मा की स्वरूप प्राप्ति' ही मुक्ति है। इनका इतना वैशिष्ट्य अवश्य है कि इस चरम दशा की स्थिति में भी जीव एवं परमात्मा का अविभाग विभाग सहिष्णु होता है। यह दशा अनुभवानन्द की दशा है, समाधिनिष्ठ योगी इसी दशा में लीन रहते हैं। माध्व-मत के अनुयायियों की पार्यन्तिक दशा सम्बन्धी धारणा निराली ही है। मुक्ति का अन्तिम रूप 'भोग' है—जो नानालोकों में नानास्तर का नानारूपों में आनन्द-मय होकर भी तारतम्ययुक्त है। वल्लभाचार्य के यहाँ मुक्ति 'स्वरूपानन्दानुभव' है—जो भक्ति-साध्य है। पुष्टिपुष्टिभक्ति तथा शुद्धपुष्टिभक्ति से जो समाधि-साध्य संयोग अथवा वियोगमयी रसदशा होती है—सर्वत्र आनन्दमयी स्थिति होती है। क्योंकि स्वरूप का आविर्भाव हो या तिरोभाव—आनन्दमयता भक्ति के आधीन है। रामभक्ति साधना अथवा कृष्णभक्ति साधना में माधुर्यभाव की धारा ज़ो उत्तरोत्तर रहस्यमय होती चली गयी है—वहाँ चरम दशा का निरूपण और भी गम्भीर है। लीला रसिक इन महापुरुषों ने चरमानुभूति का बड़ा ही गम्भीर विवेचन प्रस्तुत किया है। लीला-राज्य में प्रवेश के लिए इन लोगों ने 'सिद्ध-देह' या 'भाव-देह' की कल्पना की है। ये लोग मानते हैं कि भक्ति साधना की चरम परिणति में एक ओर 'रस' की अभिव्यक्ति होती है और दूसरी ओर 'महाभाव' का विकास होता है। वस्तुतः 'रस' की विशुद्ध उपलब्धि 'महा-भाव' के विकास से ही सम्भव है। ये रस-साधक मानते हैं कि राम या कृष्ण की ह्लादिनी नामक अन्तरंगा शक्ति ही रति या भाव है—जो 'महाभाव' रूप में विकसित होती हुई अन्ततः 'रस-दशा' को प्राप्त हो जाती है। अस्तु, जो भी हो—इस चर्चा से यहाँ इतना वक्तव्य है कि रहस्यदर्शियों की चरमानुभूति या पार्य-न्तिक दशा 'आनन्दमयी' होती है। समाधि-साध्य इस दशा से 'व्युत्थान दशा' में आने पर रहस्यदर्शी उस उल्लासात्मक दशा के विषय में, अनुभूत आत्मरूप के विषय में कुछ कहना आरम्भ करता है यद्यपि वह जो कुछ कहना चाहता है—वह शब्दों के माध्यम से कहने में नहीं आ सकता—पर इनकी अद्भुत अनुभूति को करके मौन भी नहीं रहा जाता। वह असीम आह्लाद जब व्यक्त होता है—तब नाना रूपों में फूटकर बाहर आने लगता है। रहस्यदर्शियों का कहना है कि वही आह्लाद जब व्यक्त होता है तो संसार के विभिन्न नाम, रूपों में साकार हो जाता है। सूफियों ने इसी आत्मव्यंजनोन्मुखी तत्त्व का संसारव्यापी निरूपण किया है।

रहस्यानुभूति की आन्तरालिक दशा या साधन दशा का जो निरूपण या

विवरण रहस्यदर्शियों के साहित्य में मिलता है—उसे दो खण्डों में विभक्त किया जा सकता है—(1) उपास्य की विरहानुभूति सम्बन्धी उद्गार—माधुर्य-प्रमुख-सम्बन्ध मूलक भावात्मक उद्गार (2) तथा बीच में पड़नेवाले आध्यात्मिक लोकों या ठहरावों का वर्णन।

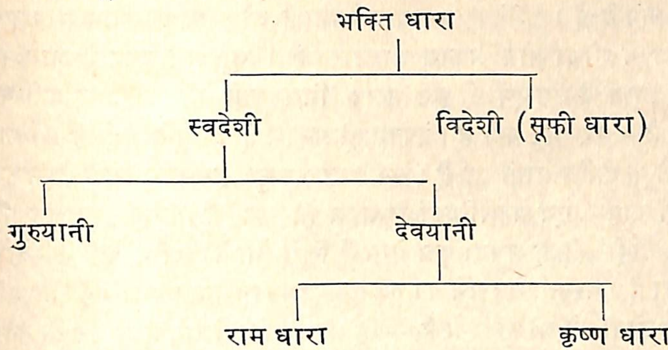
रहस्यदर्शियों की आरम्भिक या प्रवर्तक दशा की भी अनुभूतियों को लें—तो नाम-साधना या मन्त्र-साधना आदि को भी लिया जा सकता है—जिज्ञासात्मक रहस्यवाद को भी समाविष्ट किया जा सकता है।

इस प्रकार इसका वर्गीकृत चित्र ऐसा होगा—



मध्यकालीन रहस्यदर्शी साधकों को सामान्यतः निर्गुणधारा और सगुण-धारा-जैसे दो वर्गों में विभक्त किया गया है, परन्तु रहस्यदर्शी सन्तों एवं वैष्णव कवियों में देखा यह जाता है कि निर्गुण या अद्वैत तत्त्व का अस्तित्व सर्वत्र मिलता है—चाहे वे कबीर या जायसी हों या सूर और तुलसी। इसी प्रकार सगुणरूपता भी जिस प्रकार तुलसी एवं सूर में मिलती है उसी प्रकार कबीर एवं जायसी में भी। हाँ, यह अवश्य है कि जिस प्रकार तुलसी के सगुण राम दशरथ-सुत एवं कौशल्यानन्दन हैं, जिस प्रकार सूर के कृष्ण वसुदेव-सुत एवं देवकीनन्दन हैं—कबीर के राम और कृष्ण निश्चय ही उस रूप के नहीं हैं। अतः पारिभाषिक रूप में दोनों धाराओं का 'सगुण' भले भिन्न हो—पर अपने व्युत्पत्तिलभ्य रूप में 'सगुण' रूपता उभयत्र विद्यमान है। अतः जैसा कि आचार्य पं. श्री विश्वनाथ प्रसादजी मिश्र का सुझाव है कि इन्हें 'गुरुयान' एवं 'देवयान' जैसे वर्गों में रखा जाये—तो अधिक समुचित जान पड़ता है। यों तो 'गुरु' का महत्त्व सूफियों के यहाँ 'मुरशिद' के रूप में है ही, रामाश्रयी एवं कृष्णाश्रयी धारा में भी 'श्री गुरुपदनख मणिगण ज्योती' तथा 'श्री वल्लभ नखचन्द्र छटा' के स्वरों में मुखर है—पर 'गुरु' को जो सर्वातिशायी महत्त्व सन्तों में है—वह अन्यत्र नहीं है। राधा-

स्वामी मत के ग्रन्थों में 'सन्तमत' 'गुरुमत' पर्याय के ही रूप में मिलते हैं। अतः इस भक्ति का पूर्वमध्यकाल का विभाजन इस प्रकार भी किया जा सकता है—



अथवा 'पीर' शब्द को श्लिष्ट मान लिया जाये—अर्थात् एक तरफ उसमें 'गुरु' अर्थ को देने की क्षमता स्वीकार कर ली जाये और दूसरी ओर 'प्रेम की पीर' का संक्षिप्त रूप स्वीकार कर लिया जाये—तो भक्ति धारा को 'पीरयान' एवं 'देवयान'—जैसी शाखाओं में विभक्त अथवा वर्गीकृत किया जा सकता है। अस्तु, मध्यकालीन रहस्यदर्शियों की इन विविध धाराओं में प्रवाहित 'रहस्यानुभूति' के उपर्युक्त विविध रूपों का विवरण यहाँ प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है।

पीरयानी रहस्यानुभूति के विविध रूप

पार्यन्तिक-अनुभूति : (देहात्मबोध का विस्मरण, उल्लास, अनुभूति की व्यंजना)

निर्गुण धारा या पीरयानी धारा की दोनों ही उपधाराओं में चरम अनुभूति के लिए विविध नामों का प्रयोग किया गया है। कबीर आदि सन्तों के यहाँ उन्मनी दशा, सहज समाधि, तुर्य दशा, सुन्न दशा आदि शब्दों का प्रयोग है तो जायसी के यहाँ या सूफियों के यहाँ इलहाम, हाल, अहवाल या हकीकत-जैसी संज्ञाओं का इस्तेमाल है। यही दशा इन लोगों का परम प्राप्य है। इस दशा में पहुँचने पर जीव की दशा का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

कबीर का कहना है—

तन पाया तन वीसर्या, जब मन धरिया ध्यान।
तपनि गई सीतल भया, जब सुनि किया असनान।।

अथवा—

अवधू मेरा मन मतिवारा।
उनमनि चढ़या गगन रस पीवै, त्रिभुवन भया उजियारा।

अथवा—

कांचिति, ह्वै सुपिनैं, निधि पाई। नहि सोभा को धरौं लुकाई।

यह वह दशा है जिसमें तन की सुधि विस्मृत हो जाती है, मन मत्त-सा घूर्णन करने लगता है—लगता है जैसे स्वप्न में कुछ पा लिया हो। उल्लास और आनन्द की वर्षा होने लगती है। भौतिक ताप चला जाता है और उसका स्थान शीतलता ले लेती है। अपूर्व शोभा और प्रकाश छा जाता है। व्युत्थान दशा में आने पर लगता है जैसे स्वप्न में उस पूर्ण की कुछ झलक मिल गयी हो। वहाँ चाँदनी का अनुभव होता है—पर चाँद नहीं है। प्रकाश ही प्रकाश है पर सूर्य नहीं है। बिना तेल और बाती के दीप्ति छायी हुई है। सब तरह का सुख है—पर उसके उपकरण नहीं हैं। बिना ग्राहक एवं ग्रहणेन्द्रियों के ग्रहण हो रहा है। वहाँ सबकुछ 'है' यहाँ तक की 'नाहीं' भी है अथवा कुछ ऐसा है जिसे 'नाहीं' और 'हाँ' के बीच कहा जा सकता है। वस्तुतः वह गूँगे का गुड़ है—उसका कहना बनता नहीं। कहने में उसे बाँधना लोगों को धोखा देना है—वह तो जैसा है वैसा है—उसकी कोई सीमा नहीं है। वह शाश्वत है।

दरिया साहब का कहना है कि मालिक के मिलने से मेरी आँखों में आनन्द के ज्वारभाटे आ रहे हैं, हृदय उफन रहा है—उन्मत्त हो गया है। प्रेम रस इतना गाढ़ा है कि उसकी अनिर्वचनीयतावश रहस्यदर्शी गूँगा हो गया है। सहजोबाई बोलती हैं कि मन में तो आनन्द है पर बहिरिन्द्रियाँ उसे सम्हाल नहीं पातीं— अतः लगता है पागल हो गयी हैं। वहाँ ऐसा कोई दूसरा नहीं है—जिसके पीछे लगना पड़े या जो स्वयं पीछे लगे। कबीर को भी इस दशा में देखकर लोगों ने पागल कह दिया था। इसी उन्माद में तमाम असंगतियों एवं विरोधों से भरी वाणी फफक-फफक कर बरसने लगती है—सुनायी पड़ता है कि धरनी बरस रही है, आसमान भीग रहा है। मानो यह सब आँखों देखकर परिष्कृत बुद्धि से कहता है पर उसे दुःख यह है कि इसे कौन समझ सकेगा। यही रहस्यवाद है—रहस्य का वदन या कथन है। यही 'निरति' की दशा है—जो 'निरवलम्ब' (निरति कहै निरलम्भ) है—जहाँ विषय विषयी का द्वैत नहीं है। यहाँ नर्तन है, पर बिना पाद-प्रक्षेप का; यहाँ ताल दिया जाता है पर उसके लिए हाथ पर हाथ बजाना अन-पेक्षित है। यहाँ बिना छवि के ही नयन देखे जाते हैं और बिना श्रवण के ही झनकार सुनी जाती है। सूफियों के 'दौर' या 'समा' से इसकी तुलना नहीं की जा सकती।

सूफी सन्त भी इस अन्तिम दशा को मूर्च्छा या घूर्णन की दशा मानते हैं। जायसी ने कहा ही है—

कया जो परम तत्त्व मन लावा।
घूम माति, सुनि और न भावा।
जस मद पिए घूमि कोइ, नाद सुनै पै घूम।
तेहिं तें बरजे नीक है, चढ़े रहसि कै दूम ।।

काया में जिक्र एवं मुराकवत से निर्मल मन (दर्पण) पर जब परमतत्त्व की झलक पड़ती है—तो रहस्यदर्शी मत्त होकर बेसुध गिर पड़ता है—उसके समक्ष कुछ भाता नहीं—शराब के नशे में जैसे कोई पागल हो गया हो—वह दशा हो जाती

है । सूफी सन्त अली मुराद ने भी कहा है—

"या से आगे कहा कही मस्ता, एक ही एक लखाई"

कुछ दूर तक ही उस यात्रा का वर्णन किया जा सकता है । अन्तिम दशा तो मस्ती की है—जहाँ एक ही एक है। पद्मावत में चरमतत्त्व के प्रतीक रूप में गृहीत पद्मावती का दर्शन मिलने पर रतनसेन की मूर्च्छावस्था हुई है । सरोवर जैसों के पास जब परमतत्त्व गोचर होता है तो 'हिय हुलास पुरइनि होइ छावा'—मानसरोवर ने देखा और उसका रूप बहुत रुचा । फलस्वरूप हृदय उल्लसित हो उठा और वही पुरइनि के रूप में छा गया । अलाउद्दीन भी एक ही झलक में मूर्च्छित हो उठता है और कहने लगता है कि "वह एक विचित्र कौतुक देख रहा है कि वहाँ अन्तरपट है भी और नहीं भी है । वह एक ऐसा अद्भुत सरोवर देख रहा है कि जिसमें पानी है, पर पान नहीं हो रहा है । वह देख रहा है कि सरग धरती पर उतर आया है—है वह स्वर्ग धरती पर ही पर अपनी पकड़ में नहीं आ रहा है ।" अर्थात् यद्यपि निक्षेप एवं आवरण शक्ति से समन्वित माया का व्यवधायक पट है—फिर भी जैसे वह नहीं है, क्योंकि व्यवहित तत्त्व का साक्षात्कार हो रहा है । वह पट कुछ अनिर्वच है—जिसके विषय में न तो एकान्ततः 'नहीं' कहा जा सकता है और न तो एकान्ततः 'हाँ' ही । वहाँ चिर आकांक्षित सौन्दर्य का समुद्र लहरा रहा है—पर इच्छा तृप्त नहीं हो रही है—जैसे वह पान का विलय नहीं बन पा रहा है । दिव्य जगत की अमरता पृथिवी में व्याप्त हो उठी है—पर अपनी पकड़ में नहीं आ रही है ।

यहाँ सन्तों की अनुभूति और सूफियों की चरम अनुभूति के विषय में एक प्रश्न उठाया जाता है, बल्कि प्रसंगात् क्रिश्चियन मिस्टिक को भी लिया जा सकता है । कहा जाता है कि सन्तों ने अपनी प्रक्रिया से 'मिलन' की स्थिति जब एक बार प्राप्त कर ली—तो पुनः उसका विलयन नहीं होता—वह स्थायी और स्थिर होता है—पर 'कल्ब' के माध्यम से इलहाम की दशा में पहुँचनेवाले सूफी की वह स्थिति क्षणिक होती है—विद्युत् की भाँति कौंध कर शान्त हो जानेवाली होती है । प्रमाण के रूप में बड़थ्वाल जी ने Studies in Tasabbuf में ख्वाजा-खान को प्रस्तुत किया है । दूसरी ओर कबीर का कहना है—

"साधो सहज समाधि भली ।
गुरु प्रताप जा दिन से जागी दिन-दिन अधिक चली"

चरणदास, गुलाल सभी की एक ही धारणा है । इन उद्धरणों के द्वारा वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दोनों की चरम अनुभूतियाँ समकक्ष नहीं हैं—एक की स्थिर है और दूसरे की अस्थायी । साथ ही वे निर्गुनिये सन्तों की पार्यन्तिक 'मिलन' दशा का विश्लेषण करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कबीर, दादू, सुन्दरदास आदि का 'मिलन' अद्वयात्मक प्रकृति का है और नानक तथा उनके अनुयायियों का भेदगर्भित अभेदात्मक प्रकृति का । इनके अतिरिक्त शिवदयाल, प्राणनाथ, दरिया द्वय तथा बुल्लेशाह के अनुसार पार्यन्तिक मिलन को विशिष्टाद्वैती प्रकृति का

कहा जा सकता है।

इन दोनों प्रकार की स्थापनाओं ने दूसरी स्थापना में मुझे कोई महत्त्व नहीं दिखायी देता। कारण, इस तरह के दार्शनिक कठघरों से रहस्यदर्शियों की अबुद्धि-बोध्य अनुभूतियों का विभाजन और वर्गीकरण असम्भव है। सुन्दरदास का कहना ठीक है कि "जाके अनुभव ज्ञान, सो वाद में न वह्यो है।" मैं तो मानता हूँ कि कबीर से लेकर राधास्वामी तक के सन्त 'मौज' और 'मालिक' अथवा 'राधा' और 'स्वामी' का सामरस्य ही मानते हैं। उनकी पार्यन्तिक अनुभूति की एक ही धारा है। यह बात दूसरी है कि विनय की भावना में जब वे लोग मग्न रहे—तो अंशांशिभाव कह दिया और तथ्य निरूपण की भूमिका पर रहे—तो अद्वयात्मक स्थिति मान ली। मैं यह अवश्य मानता हूँ कि सन्तों ने आध्यात्मिक यात्रा के विभिन्न ठहराव माने हैं—हो सकता है कि कुछ लोगों ने आन्तरात्मिक ठहरावों तक ही पहुँचकर इस शरीर को छोड़ दिया हो—अन्त तक न पहुँच पाये हों—और उनकी अपनी पार्यन्तिक अनुभूति के विषय में की गयी रचनाओं में उसका कुछ आभास हो। इस प्रकार उन रचनाओं को आधार मानकर भूमिका-भेद की बात उठानी असम्भव नहीं है—पर उसे भूमिका-भेद ही कहना ज्यादा संगत है—न कि उसके आधार पर मौलिक प्रकृति-गत अन्तर की स्थापना की जाये।

रही पहली स्थापना। उस विषय में यह कहना है कि 'हाल' तो अवश्य परमात्मा की कृपा का फल है—जो मूर्च्छा की भाँति साधक को कुछ समय के लिए विशेष 'स्थिति' में पहुँचा देता है—आनन्द विह्वल कर देता है। यहाँ दो सम्भावनाएँ हैं—यदि यह अनुभूति स्थायी नहीं है—तो कहना चाहिए कि अन्तिम दशा का साक्षात्कार ही नहीं है। इसलिए यदि सूफियों की अन्तिम पहुँच यहीं तक है तो उनकी पहुँच ही पूरी नहीं है। दूसरी सम्भावना यह है कि 'हकीकत' की दशा यदि 'आलमे नासूत' और 'आलमे लाहूत' के एकीकरण की है—जिसे 'प्रेम' योग द्वारा सम्पन्न किया जाता है—तो निश्चय ही यह दशा स्थायी है। 'अनल हक' जैसे उद्‌गार क्या जीवात्मा और परमात्मा के एकीकरण की दशा का संकेत नहीं देते? अस्तु, यहाँ लम्बी-चौड़ी दार्शनिक गहराइयों में जाने का अवसर नहीं है।

आन्तरालिक अनुभूतियाँ

'रहस्य' की चरमानुभूति के पूर्व की आरोहणात्मक आध्यात्मिक यात्रा में भी दो तरह की रहस्यमयी अनुभूतियाँ हैं—पहली भावनात्मक और दूसरी विविध आध्यात्मिक ठहराव या लोकों का दर्शन।

भावनात्मक रहस्यवाद का अर्थ है 'रहस्य' मयी अद्वयात्मक सत्ता से सम्बद्ध विविध भावनाएँ। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि ज्ञान के क्षेत्र का अद्वैत जब भावना के क्षेत्र में उतरता है—तो उत्कृष्ट कोटि के रहस्यवाद की सृष्टि होती है अर्थात् शुक्लजी का कहना यह है कि रहस्यवाद का जन्म तब होता है जब ज्ञान-गम्य तत्त्व सहसा रहस्यमय ढंग से भावना-गम्य हो जाता है। इस प्रकार से

सोचने का ही परिणाम हुआ कि एक ओर शुक्लजी ने उपनिषदों में रहस्यवाद का अनस्तित्व स्वीकार किया और दूसरी ओर उसका मूल सामी पैगम्बरी मतों को बताया—जहाँ अध्यात्म के क्षेत्र में अक्ल का दखल नहीं है और 'जिक्र' तथा 'मुराक़वत' से निर्मल किये हुए अभौतिक 'क़ल्ब' द्वारा हाल की दशा में सहसा उस तत्त्व की झलक पायी जाती है। पर हमारा यह प्रश्न है कि शुक्लजी अद्वैत के ज्ञान-गम्य होने का अर्थ क्या समझते हैं—क्या यह कि उस रहस्यमय तत्त्व से भिन्न कोई 'बुद्धि' या 'ज्ञान' है जिसका वह चिन्तन या मनन द्वारा विषय होता है ? कदाचित् ऐसा अर्थ शुक्लजी जैसे दार्शनिक तो न मानते होंगे—उसके कई कारण हैं—एक तो यह कि स्वयं उपनिषदें कहती हैं—

"जानतामविज्ञातं विज्ञातमविजानताम"

अथवा — "यस्यामतं मतं तस्य मतं यस्य न वेद सः"

अर्थात् जो यह कहते हैं कि वह तत्त्व मेरे ज्ञान या मनन का गोचर हो गया—वे उसे नहीं जानते पर जो यह कहते हैं कि वह मेरे ज्ञान या मनन का विषय नहीं है —वही ठीक-ठीक उसे समझते हैं। दूसरे यह भी है कि जब वह तत्त्व ज्ञान का विषय बनता है—ज्ञान-गम्य है—तो दो प्रश्न हैं—पहला यह कि वह ज्ञान आत्म-स्वरूप है या आत्मभिन्न। आत्मरूप तो सम्भव नहीं—क्योंकि वह तो अभी अज्ञात है—अतः आत्मभिन्न ही हुआ। आत्मभिन्न ज्ञान वृत्यात्मक (सोऽहमस्मि इतिवृत्ति अखण्डा) ही है—जिसका कार्य कतक रजोन्याय से स्वयं भी नष्ट होना और अज्ञानात्मक समस्त आवरणों को नष्ट करना है—फिर तो आत्मा या 'रहस्य' स्वयं प्रकाश होने से स्वयं प्रकाशित हो जाती है—फिर वह ज्ञान-गम्य कैसे ? स्वतःप्रकाश भी और ज्ञानगम्य भी ? यह तो परस्पर विरोध है। निष्कर्ष यह कि स्वयं औपनिषद रहस्यदर्शी उसे ज्ञानागम्य होने से 'गुह्य' या 'रहस्य' कहते हैं और तद्विषयक 'वाद' या बात भी प्रस्तुत करते हैं। इसीलिए रहस्यवाद का स्रोत सामी मतों को कहना भी संगत नहीं है। 'रहस्य' का सम्बन्ध यदि अद्वयवाद से है—तो विशुद्ध भारतीय या आर्यों की देन है। पैगम्बरी मतों में तो अद्वयीभाव अपराध है। फिर 'प्रसाद'जी ने इस पर सविस्तार विचार किया ही है। निष्कर्ष यह कि मैं जब 'भावनात्मक रहस्यवाद' शब्द का प्रयोग करता हूँ—तो मेरा अभिप्राय दूसरा होता है और वह है कि 'रहस्य' सम्बद्ध विविध भावनाएँ। यहाँ आन्तरालिक दशा में अनुभूत विविध भावनाओं की चर्चा की जा रही है।

इस प्रकार की विविध भावनाओं का उद्गार भी पीरयानियों में दो भूमि-काओं पर है— (1) एक तो केवल आत्मा और परमात्मा के बीच विविध लौकिक सम्बन्ध के रूपकों से भावनात्मक उद्गार और (2) दूसरे आत्मा और परमात्मा की भाँति परमात्मा और जगत से भी अभेद भावना या बिम्ब-प्रतिबिम्ब भावात्मक सम्बन्ध मानकर विविध उद्गारों की अभिव्यंजना। पहली स्थिति कबीर आदि गुरुयानियों में है और पहली के साथ दूसरी स्थिति भी 'प्रेम की पीर' को छाती में भरे हुए जायसी-जैसे भारतीय भावुक सूफियों में।

यहाँ पुनः एक प्रश्न खड़ा होता है कि क्या कारण है कि कबीर में दूसरे प्रकार का भावनात्मक रहस्यवाद नहीं मिलता और दूसरे वर्ग के जायसी आदि में मिलता है ? क्या कारण है कि पहला आत्मा और परमात्मा के रागात्मक सम्बन्धों में 'जगत' को पृथक् रखता है और दूसरा समेटता चलता है ? कारण यह है कि कबीर आदि सन्त जगत को मिथ्या, हेय एवं वैराग्य का विषय मानते हैं। वे जगत को माया का परिणाम मानते हुए उसे महाठगिनी कहते हैं। उनके लिए संसार का समस्तरूप नश्वर और विचारतः विशीर्यमाण सेमर की रुई की भाँति है और वासना-पंकिल मानव ही उसमें आपात रमणीयता देखता है—फलतः फँसकर अपना सर्वनाश कर लेता है। इसीलिए वे संसार की कोई भी अध्यात्मगत उपादेयता नहीं मानते। उनके लिए संसार में दिखायी पड़नेवाला सौन्दर्य एवं सुख भीतर की वस्तु है—वह बाहर केवल आरोपित भर है इसीलिए न तो संसार उन्हें आकृष्ट करता है और न वे उसके किसी रूप को देखकर झूमते हैं। विपरीत इनके जायसी-जैसे सूफी साधक संसार को वह दर्पण मानते हैं जिसमें चिर सुन्दर प्रिय की प्रतिच्छाया पड़ रही है। इसी प्रतिच्छायित सौन्दर्य ने तो अपने बनानेवाले के प्रति आकर्षण पैदा किया। इसी सांसारिक 'रूप' के माध्यम से तो प्रेम की पीर जगायी जाती है—मजाजी इश्क से हकीकी इश्क की ओर बढ़ा जा सकता है। यह संसार तो अध्यात्म-यात्रा का सर्वथा सोपान है। दूसरे इन लोगों में सौन्दर्य को देखने की आँखें हैं और वह भावुकता भी है—जो उन दृश्यों पर झूम-झूम उठती हैं।

जायसी आदि सूफी कवियों की इन्हीं विशेषताओं से आकृष्ट होकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है—"इस रहस्यवाद का स्फुरण सूफियों में पूरा-पूरा हुआ। कबीरदास में जो रहस्यवाद पाया जाता है वह अधिकतर सूफियों के प्रभाव के कारण। पर कबीरदास पर इसलाम के कट्टर एकेश्वरवाद और वेदान्त के मायावाद का रूखा संस्कार भी पूरा-पूरा था। उनमें वाक्चातुर्य था, प्रतिभा भी, पर प्रकृति के प्रसार में भगवान की कला का दर्शन करानेवाली भावुकता न थी। इससे रहस्यमयी परोक्षसत्ता की ओर संकेत करने के लिए जिन दृश्यों को वे सामने करते हैं वे अधिकतर वेदान्त और हठयोग की बातों के खड़े किये हुए रूपक मात्र होते हैं। अतः कबीर में जो कुछ रहस्यवाद है वह सर्वत्र एक भावुक या कवि का रहस्यवाद नहीं है। हिन्दी के कवियों में यदि कहीं रमणीय और सुन्दर अद्वैत रहस्यवाद है तो जायसी में, जिनकी भावुकता बहुत ही ऊँची कोटि की है। वे सूफियों की भक्ति-भावना के अनुसार कहीं तो परमात्मा को प्रियतम के रूप में देखकर जगत के नाना रूपों में उस प्रियतम के रूपों में उस प्रियतम के रूपमाधुर्य की छाया देखते हैं और कहीं सारे प्राकृतिक रूपों और व्यापारों का 'पुरुष' के समागम के हेतु प्रकृति के शृंगार उत्कण्ठा या विरह विकलता के रूप में अनुभव करते हैं। दूसरे प्रकार की भावना पद्मावत में अधिक मिलती है।" इस प्रकार यदि एक ओर शुक्लजी को कहीं रमणीय और सुन्दर अद्वैती रहस्यवाद दिखायी

देता है—तो वह जायसी में—जबकि दूसरी ओर बाबू श्यामसुन्दरदास का कहना है कि "रहस्यवादी कवियों में कबीर का आसन सबसे ऊँचा है। शुद्ध रहस्यवाद केवल उन्हीं का है। प्रेमाख्यानक कवियों अर्थात् जायसी आदि का रहस्यवाद तो उनके प्रबन्ध में बीच-बीच में बहुत जगह थिगली-सा लगता है और प्रबन्ध से अलग उसका अभिप्राय ही नष्ट हो जाता है।"

निश्चय ही दोनों अपने-अपने दृष्टिकोण और आधारों पर एक विशेष निष्कर्ष पर पहुँचे हैं—पर जहाँ तक साधनात्मक रहस्यवाद का सम्बन्ध है—दोनों में इस पक्ष का प्रचुर उल्लेख हुआ है। कबीर की अपेक्षा जायसी-जैसे सूफियों में 'मेरावा' अधिक हुआ है। रहा, भावनात्मक रहस्यवाद—निश्चय ही जगत के प्रति आकर्षण और विकर्षण के कारण कबीर और जायसी के उद्गारों में थोड़ा अन्तर आ गया है। कबीर ने संसार के चित्रों, रूपों और व्यापारों से अपनी दृष्टि सर्वथा मोड़ ली हो—ऐसा तो नहीं है। अनेक प्राकृतिक रूपों और व्यापारों के सहारे उन्होंने आध्यात्मिक भावनाओं तथा भूत भावनाओं में उपयोगी वैराग्योचित तथ्यों का संकेत देने के लिए बड़ी ही मधुर अन्योक्तियाँ कहीं हैं। जैसे—

मालन आवत देखिकर, कलियाँ करीं पुकार।
फूले-फूले चुणि लिए, काल्हि हमारी बार॥

संसार की वैराग्योत्तेजक नश्वरता का कितना सुन्दर संकेत है। इसी प्रकार—

बाढ़ी आवत देखि कर, तरिवर डोलन लाग।
हम कटे की कुछ नहीं, पंखेरू घर भाग॥

इस दोहे में शरीर तरु द्वारा आश्रित जीवात्मारूपी पक्षी पर काल का प्रभाव न पड़े—वह काल के आक्रमण से बचने का प्रयास करे—इस संकेत की कितनी सुन्दर व्यंजना है। इसी प्रकार निम्नलिखित अन्योक्ति द्वारा प्रकाशानन्दमय आत्मा स्वयं अपने स्वरूप को ही निरन्तर सप्रयास रहता हुआ भी नहीं प्राप्त कर पाता—इस तथ्य का अत्यन्त भव्य संकेत दिया गया है। पंक्तियाँ हैं—

काहे रे नलिनी ! तू कुम्हिलानी। तेरे ही नालि सरोवर पानी।

यह अवश्य है कि जायसी अपनी हर भावनाओं में प्रकृति से तादात्म्य कर लेते हैं—वह बात यहाँ नहीं है। कबीर में जायसी की भाँति संसार का हर कण 'उसी' की ज्योति से ज्योतित होकर आकर्षक नहीं लगता। जायसी कहते हैं—

बहुतै जोति-जोति ओहि भई
रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोति। रतन पदारथ मानिक मोती।
जहँ तहँ विहँसि सुभावहिं हँसी। तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी॥
नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा, दसन जोति नग हीर॥

कहा जाता है कि कबीर परमातमा को अपने घट के ही भीतर ढूँढ़ते हैं—इसीलिए बाहर उन्हें परमातमा का जलवा दिखायी नहीं पड़ता। पर यह बात जायसी में भी है—वे भी कहते हैं कि—

"पिउ हिरदय महँ भेंट न होई।"

लेकिन बावजूद इसके वे बाहर भी उसी का जलवा देखते हैं। वे मिलन और विरह की आत्मगत अनुभूतियों की व्यंजना तो कबीर के समान या अन्य सन्तों के समान आत्मा और परमात्मा के बीच करते ही हैं—जगतव्यापी व्यंजना भी करते हैं। इतना अन्तर अवश्य है कि आत्मा और परमात्मा के मिलन की व्यंजना जहाँ कबीर में साक्षात् है वहाँ जायसी या अन्य सूफियों में किसी नायक और नायिका को प्रतीक बनाकर परम्परया हुई है। साथ ही जहाँ कबीर में केवल आत्मा परमात्मा के बीच ही मिलन की झंकृति श्रुतिगोचर होती है वहाँ जायसी में जड़ (सरोवर) भी उल्लसित हो उठता है। पद्मावती जब सरोवर के समक्ष आती है—

तव देखि मानसर रूप सुहावा। हिय हुलास पुरइनि होइ छावा।

वियोग की भावना काज हाँ तक सम्बन्ध है—वहाँ भी जहाँ जायसी, नागमती, पद्मावती, किंवा समस्त जगत से एकरस होकर चतुर्दिक सृष्टि में विरह की व्याकुलता का प्रदर्शन करते हैं। व्यक्तिगत नागमती और पद्मावती के द्वारा 'हाड़ मांस किंगरी भईं नसें भईं सब ताँति' तो कहते ही हैं धरती और आकाश के विछोहजन्य तड़फड़ाहट को भी स्वर देते हैं। सूरज भी उसी विरह की आग में उबल रहा है, कोयल और काक उसी आग के धुआँ से काले हैं। गेहूँ का पेट उसी भीतरी आग से दहक उठा है—दाड़िम का हृदय उसी वेदना से विहर गया है—जलाशयों के वक्षःस्थल में उसी की आँच से दरारें पड़ गई हैं। बिजली की तड़प और छटपटाहट के मूल में वही बेकली है। इस प्रकार की व्यापक-विरह-व्यंजना कबीर में नहीं मिलेगी। व्यक्तिगत आत्मा और परमात्मा की भूमिका पर विरह की आग की ज्वालाएँ कबीर में निश्चय ही शत-सहस्र मुखी होकर हहर-हहर लपलपा रही हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं। निचली पंक्तियाँ कितनी मार्मिक हैं—

"यहु तन जालौं मसि करूँ, ज्यूँ धूवाँ आई सरग्गि।
मति वै राम दया करें, वरसि बुझावै अग्गि॥
अंखड़ियाँ झाईं पड़ी पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़्या राम पुकारि पुकारि॥
इस तन का दीवा करूँ, बाती मेल्यूँ जीव।
लो ही सींचौं तेल ज्यूँ, कब मुख देखौं पीव॥

इस प्रकार 'पीरयानी' शाखा के प्रतिनिधि भूत इन दोनों कवियों में भावनात्मक रहस्यवाद की अपनी-अपनी व्यक्तिगत भावनाओं के अनुरूप नितान्त मार्मिक व्यंजना हुई है।

आन्तरालिक अनुभूतियों का साधनात्मक पक्ष के अतिरिक्त एक दूसरा पक्ष है—रहस्यमय आध्यात्मिक ठहरावों और लोकों का वर्णन, विविध रूपों, रसों एवं नादों का अनुभव आदि। साधनात्मक रहस्यवाद पर तो स्वतन्त्र रूप में अग्रिम अध्याय-गत विस्तृत चर्चा की ही जायेगी—अतः उस पक्ष को छोड़कर शेष पक्ष

पर ही यहाँ विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

ऊपर आध्यात्मिक लोकों तथा अन्यविध रहस्यानुभूतियों के औपनिषद, आगमिक, बौद्ध एवं नाथों की धारणाओं का उल्लेख किया जा चुका है—उसी परम्परा में यहाँ सन्तों और सूफियों की धारणाओं का अवलोकन करें।

आन्तरालिक-यात्रा और उस प्रसंग में हुई रहस्यानुभूतियों का (घट के अन्दर का हाल का) जो विवरण सन्तों में मिलता है—वह षट्चक्रों के वेध, कुण्डलिनी के उत्थापन से लेकर सहस्रार और उससे भी ऊपर के मार्ग तथा लोकों तक का वर्णन मिलता है। राधास्वामी सम्प्रदाय के अन्तर्गत स्वामी शिवदयालजी के विवरणों से यह पता चलता है कि वे आज्ञाचक्र में त्रिकुटी को न मानकर पृथक्-पृथक् मानते हैं और सहस्रार चक्र को उसके नीचे स्थान देते हैं। इन्होंने अपनी यात्रा का विवरण सहस्रार से ही आरम्भ किया है। इस विवरण का साहित्य बहुत विस्तृत[1] एवं गम्भीर है—उसके समुचित स्थापन तथा तुलनात्मक परिशीलन का यहाँ अवसर न होने से संक्षेप में कतिपय मत ही प्रस्तुत किये जा सकेंगे।

सबसे पहले कबीर का एक पद लिया जाये, जो सन्तबानी-संग्रह का है—पद इस प्रकार है—

मेरी नजर में मोती आया है।
कोई कहे हलका कोई कहे भारी, दूनो भूल भुलाया है।
ब्रह्मा विस्नु महेसर थाके, तिनहूँ खोज न पाया है।
संकर सेस औ सारद हारे, पढ़ि रटि गुन बहु गाया है।
है तिल के तिल भीतर, बिरले साधू पाया है।
चहुँ दल कँवल तिर्कुटी साजे, ओंकार दरसाया है।
ररंकार पद सेत सुन्न मध षट् दल कवँल बताया है।
पार ब्रह्म महासुन्न मँझारा, सोइ निःअछर रहाया है।
भँवर गुफा में सोहं राजै मुरली अधिक बजाया है।
सत्तलोक सत्पुरुष बिराजै अलख अगम दोउ भाया है।
पुरुष अनामी सब पर स्वामी ब्रह्माण्ड पार जो गाया है।
यह सब बातें देही माँहीं प्रतिबिम्ब अंड जो पाया है।
प्रतिबिंब पिंड ब्रह्माण्ड है नकली असली पार बताया है।
कहैं कबीर सत्तलोक सार यहाँ पुरुष नियारा पाया है।

इस पद में यह कहा जा रहा है कि वह रहस्यमय तत्त्व नितान्त सूक्ष्म है—उसे व्यावहारिक शब्दों के नपने से नहीं नापा जा सकता। उन्हें जो विभिन्न लोक अनुभूत हुए हैं—उनका क्रम इस प्रकार है—त्रिकुटी→सुन्न→महासुन्न→भँवरगुफा→सत्तलोक→अलख→अगम→अनामी। यह सबकुछ देह के भीतर ही है। इनके

1. देखिए—तन्त्र और सन्त

यहाँ 'गगन गुहा' से अजर रस झरा करता है जिसको वे 'बंकनालि' से पीते हैं। वे इसी घट के अन्दर अनाहत नाद जो दस तरह के हैं—सुनते हैं। इसी से मिलते-जुलते तमाम सन्तों के अनुभवों का उल्लेख है।

सूफियों के साहित्य में भी भीतरी मुकामातों का अहवाल मिलता है। चक्रों का उल्लेख, इड़ा, पिंगला, चन्द्र, सूर्य और उनके एकीकरण की स्थितियाँ तो मिलती ही हैं—अन्य बातें भी मिलती हैं। जायसी ने ही कहा है—

"चारि बसेरें सो चढ़े सत सौं उतरे पार।"

ये चार मुकामात कौन से हैं—इस पर कई अन्दाज लगाये गये हैं। कुछ लोगों का ख्याल है कि वे चार ठहराव हैं—शरीअत, तरीकत, मारिफत और हकीकत। कुछ लोगों का ख्याल है कि वे चार हैं—नासूत, मलकूत, जबरूत एवं लाहूत। मेरा विचार है कि वे मुकामात ये ही हैं। कारण, आगे 'हाहूत' (सत्यलोक) की जैसे आध्यात्मिक लोक की कल्पना इसी सन्दर्भ में हुई है। दूसरा कारण यह भी है कि 'कबीर मंसूर' में जो और अन्य लोकों का उल्लेख हुआ है—उनमें इन्हीं चारों का समावेश है। 'कबीर मंसूर' में कहे गये लोकों का क्रम इस प्रकार है—नासूत→मलकूत→जिबरूत→लाहूत→हाहूत→बाहूत→साहूत→राहूत→आहूत→जाहूत। ये लोक क्रमशः माया, विष्णु, निर्गुण ब्रह्म अलख निरञ्जन, अक्षर, अचिन्त्य, सोहंग, इच्छा, अंकुर, सहज एवं सत्य नामक पुरुषों के स्थान हैं। सब लोकों के जलवे का वर्णन कहाँ तक किया जाये?

परवर्ती सन्तों में राधास्वामी के मतानुयायियों ने कण्ठगत विशुद्ध चक्र के बाद सहस्रार चक्र→त्रिकुटी→सुन्न→महासुन्न→भँवरगुफा→सत्य लोक→अलख→अगम→अकल या राधास्वामी देश की बात कही है। सन्त शिवदयाल ने त्रिकुटी से शून्य मण्डल (जहाँ मानसरोवर में स्नान किया जाता है) के बीच 'बंकनालि'[1] का पथ के रूप में निर्देश किया है।

'बंकनालि' या 'बंकनाल' का उल्लेख विभिन्न रूपों का मिलता है।[2] एक तो यह कहा ही गया कि त्रिकुटी से शून्यमण्डल के बीच का पथ 'बंकनाल' है। दूसरे लोगों का कहना है कि सहस्र दल के ऊपर प्रकाशमय स्थान है। इस प्रकाश के ऊपर सुई की नोक-सा एक बारीक दरवाज़ा है—जहाँ से होकर सुरत आगे बढ़ती है। इसके आगे 'बंकनाल' है—यह एक टेढ़ा रास्ता है—जो कुछ दूर तक सीधा जाता है और फिर नीचे को गया है—बाद में फिर ऊपर की ओर चढ़ा है। इस नाल या नाली से पार हो सुरत दृष्टि आसमान पर पहुँचती है। इस आसमान पर एक स्थान 'त्रिकुटी' है। निष्कर्ष यह कि इस मत के अनुसार सहस्रदल और त्रिकुटी के बीच के रास्ते का नाम 'बंकनाल' दिया गया है। म॰ म॰ कविराज गोपीनाथ ने कहा है कि सन्तों के विहंगम-मार्ग में 'बंकनालि' का विशेष

1. बंकनाल पिण्डी भी है और ब्रह्माण्डी भी—'प्राणसंगली'।
2. प्राणसंगली में बंकनाल के और भी रूप मिलते हैं।

स्थान है। यह एक विशेष नाड़ी हैं। उनके अनुसार यह मूलाधार से निकल नाभि की बायीं ओर से ऊपर चढ़ हृदय और वक्ष:स्थल का स्पर्श करती हुई आज्ञा-चक्र में रुद्रगन्थि से मिल जाती है और वहाँ से फिर वह ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच जाती है। फिर मस्तक के पीछे की ओर कुछ लटकती है एवं फिर ऊपर की ओर बढ़ती है। इस जगह यह नाड़ी अर्द्धचन्द्राकार दिखायी देती है। इसी स्थान पर यह 'बंकनाल' नाम ग्रहण करती है। तदनन्तर यह धुँधले मण्डल को पारकर महा-शून्य के छोर पर भँवर गुफा में प्रवेश करती है। भ्रमर गुफा सत्यराज का द्वार है। श्री भुवनेश्वर प्रसादजी अन्य किसी आधार पर कहते हैं कि सहस्रार से एक नाड़ी जिसे 'शंखिनी' कहते हैं जिह्वा के मूल तक चली गयी है। यही है योगियों का 'बंकनाल'—जिसके द्वारा सोमरस या महारस का पान होता है। इसी शंखिनी के मुँह को जिससे चन्द्रमा का अमृत झरता रहता है 'दशम द्वार' कहते हैं।

सन्तों की यह यात्रा या मार्ग 'विहंगम मार्ग' के रूप में प्रसिद्ध है। योग मार्ग का एक दूसरा रूप है—'पिपीलिका मार्ग'—यह हठयोग है। विहंगम मार्ग इसकी अपेक्षा उत्तम है। कहा ही गया है—

विहंगम चढ़ि गयउ अकासा।
बैठि गगन चढ़ि देखु तमासा ॥

एक निकट अतीत के परमहंस ने अपने अन्दरूनी अनुभवों का हवाला जिन शब्दों में प्रस्तुत किया है – यहाँ अविकल उसी रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है—''जिस समय अभ्यास में सहज समाधि के द्वारा आँखों की दोनों पुतलियाँ उलटने लगती हैं तो पहले अँधेरे में कुछ रोशनी के किनके दिखायी पड़ने लगते हैं और फिर अलोप हो जाते हैं। बिजली की-सी चमक, दीपक की-सी ज्योति, पाँच तरह के रंग—लाल, पीला, सफ़ेद, साँवला, नीला—दिखायी देने लगते हैं और तबीयत अभ्यास में लगती है। इसके बाद आसमान और तारों की-सी चमक, दीपकमाला-सी झिलमिल-झिलमिल जोति नज़र आती है। वहाँ चाँदनी का-सा प्रकाश और सूरज का-सा उजाला दिखायी पड़ता है। जिस समय आँखें बिलकुल भीतर को उलट जायेंगी तब सुरत शरीर को छोड़कर ऊपर को चढ़ती है—वहाँ फिर प्रकाश ही प्रकाश दिखायी पड़ता है। इसी प्रकाशमय स्थान में सहस्रदल कमल है। इस प्रकाश के ऊपर का दरवाज़ा इतना बारीक और झीना है जैसे सुई की नोक। इसके द्वारा सुरत बंकनाल से होती हुई आसमान पर पहुँचती है। इसी आसमान पर एक मुकाम 'त्रिकुटी' है जिसे लाहूत मुसलसी भी कहते हैं। यह स्थान बहुत विस्तीर्ण है। यहाँ ऊँ ऊँ की आवाज़ होती रहती है और बादल की-सी मन्द-ध्वनि सुनायी पड़ती है। यहाँ का आनन्द अभूतपूर्व है। यहाँ सुरत साफ़ और सूक्ष्म हो जाती है। यहाँ से भीतर की ख़बरें मिलने लगती हैं। यहाँ से सुरत फिर आगे बढ़ती है और तीसरा पर्दा फाड़कर 'शून्य' में पहुँचती है इसे हूत-लाहूत भी कहते हैं। यहाँ का वर्णन क्या किया जाये—यहाँ का प्रकाश त्रिकुटी

से बारह गुना ज्यादा है। यहाँ मानसरोवर के तालाब अमृत से भरे हुए हैं—हर तरह के ऐश्वर्यमय नाच-रंग, रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श छहर रहे हैं। यहाँ पहुँची हुई सुरतों को हंसमण्डली कहा गया है—यह चैतन्यमय प्रदेश है। यहाँ से सुरत आगे बढ़ती है और अन्धकारमय महाशून्य का नाका तोड़ती हुई चलती है। उस तिमिराच्छन्न प्रदेश में सुरत नीचे चलती गयी, थाह न पाकर फिर ऊपर चढ़ी और गुरु द्वारा निर्दिष्ट चिह्न की सीध में बढ़ती गयी। इस महाशून्य के मैदान में चार शब्द और पाँच मुकाम अति गुप्त हैं—जो गुरु की कृपा से ही मालूम किये जा सकते हैं। यहाँ न जाने कितनी सुरतें हैं। यहाँ मालिक का दर्शन न होने से कुछ बेचैनी रहती है—पर इस रास्ते से गुजरनेवाले सन्त इन सुरतों को मालिक की दया से बुला लेते हैं। इस स्थान को पार कर सुरत आगे चलती है—वह स्थान है—भँवर गुफा। यहाँ एक चक्कर है जिसे हिंडोलना कहते हैं। वह इतना सुन्दर फिरता रहता है कि बहुत सुरतें उस जगह झूलती हैं। इसके इर्द-गिर्द प्रज्ज्वलित अनन्त चिन्मय प्रदीपों से 'सोऽहं सोऽहं' की आवाज़ उठ रही है। इसके बाद सुरत जब और आगे बढ़ती है तो तरह-तरह की सुगन्धें मिलती हैं। बाँसुरी की ध्वनि सुनायी देती है। उसको सूँघती और सुनती हुई सुरत आगे चलती है और जब इस मैदान के पार पहुँचती है तब सत्यलोक की सीमा में प्रवेश होता है। वहाँ के वैभव का कहना ही क्या है—यहीं सत्यपुरुष का दर्शन होता है। इसके बाद अलख लोक में अलख पुरुष और उससे ऊपर अगम लोक में अगम पुरुष का वास मिलता है। उससे भी ऊपर अन्त में सुरत को अनामी पुरुष का दर्शन मिलता है। वहाँ सुरत जाकर उसी में समा जाती है। इसके बाद सन्त भी चुप हो जाते हैं। इन्हीं लोकों में विविध प्रकार की ध्वनियों का भी विवरण मिलता है।

इस आन्तरालिक विवरण के बाद आरम्भिक साधना की बात का जहाँ तक सम्बन्ध है—सन्तों की साधना 'सुरत-शब्द-योग' की साधना है। इसमें नाम-जप ही प्रमुख है। सूफ़ियों में भी ज़िक्र एवं स्मरण का महत्त्व है।

इस प्रकार यहाँ पीरयानियों की रहस्यानुभूतियों के पार्यन्तिक आन्तरालिक एवं आरम्भिक रूपों की संक्षिप्त चर्चा प्रस्तुत की गयी। एक ही भूमि में साथ-साथ रहने से दोनों की साधनाओं का परस्पर आदान-प्रदान भी एक सीमा तक हुआ होगा—फलतः नादश्रवण एवं 'दृष्टि को उलट' कर आध्यात्मिक करामातों का अनुभव दोनों ही धाराओं में समान रूप से मिलता है। हाँ, इतना अवश्य अन्तर है कि विवरण सबका अलग-अलग है और अन्तर की स्थिति सर्वथा सम्भव है। कबीर-मंसूर में मुकामातों का जो विवरण मिलता है वह पारस्परिक मिश्रण एवं आदान-प्रदान का पर्याप्त सूचक है।

'ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य में माधुर्य भक्ति[1] के लेखक डॉ. रूपनारायण ने कहा है "लीला पर आधारित भक्ति में किसी प्रकार की रहस्य भावना नहीं है—वहाँ स्पष्टता और सहजता है। इसीलिए सगुण भक्ति काव्य और विशेष रूप से

कृष्णभक्ति काव्य में रहस्यवाद का प्रचलन नहीं हुआ।" इस वक्तव्य से मैं कई कारणों से सहमत नहीं हूँ। कारण, न तो परम्परा ही इसके पक्ष में है और न तर्क ही। परम्परा इसलिए नहीं कि स्वयं उक्त धारा के आचार्य और रहस्यदर्शी कवि इस माधुर्य-साधना को 'रहस्यमय' मानते हैं। 'उज्ज्वलनीलमणि' के रचयिता ने इस साधना को 'अति रहस्यमय' कहा है। उक्त कृति के लेखक ने भी हरिदासी सम्प्रदाय की नित्यविहार की साधना के सन्दर्भ में स्वयं कहा है, "भक्ति रहस्य को जानने के लिए वह (साधक) गुरु-धारण करता है" (373 पृ.)। क्या इस 'भक्ति रहस्य' और उक्त आलोच्य उद्धरण की 'सहजता और स्पष्टता' में कोई अन्तर्विरोध नहीं है? राधावल्लभ सम्प्रदाय का भी सेवक (दामोदरदास) नाम का एक रहस्यदर्शी ऐसा है जिसने निर्गुनिये रहस्यवादी सन्तों की भाँति 'गुरु महत्त्व-निरूपण' पर जितना ध्यान दिया है—उतना 'लीला निरुपण' पर नहीं? क्या यह रहस्योद्घाटक गुरु को दिया गया महत्त्व प्रस्तुत उपासना की स्पष्टता ही समर्थित करता है? 'सिद्धदेह' द्वारा 'रहस्यमयी लीला' में प्रवेश पाने की बात क्या इस साधना की गोपनीयता या रहस्यमयता का समर्थन नहीं करती? निम्बार्क सम्प्रदाय के रहस्यदर्शी कवि श्री हरिव्यासदेव ने स्पष्ट कहा है—

"अति रहस्य रस की परिपाटी, लखिवे इनकी कोउ न सरिवर।"

इसी प्रकार रामाश्रयी धारा के रसिक और भक्त आचार्यों ने भी रस-साधना को 'अति रहस्य' कहा है। इस साम्प्रदायिक साहित्य में तो रसिक-सम्प्रदाय के पर्याय रूप में 'रहस्य सम्प्रदाय' शब्द का प्रयोग मिलता है। देखिए—

विमला विमल विहार में, रहित सदा लवलीन।
रहस संप्रदा लाल की, प्रगटति चाह नवीन।।

[कृपानिवास कृत भावनापचीसी पृ. 1]

डॉ॰ भगवतीसिंह की धारणा है कि रसिक-साधना का विकास "एक गुह्य अथवा रहस्य-साधना के रूप में हुआ (पृ. 174 रा. र. स.)।" हनुमत्संहिता में कहा है—

"अत: सर्वप्रयत्नेन गोपनीयं सदैव हि"

[पृ. 26]

इसी प्रकार 'माधुर्य केलि कादम्बिनी' [पृ. 51] में भी कहा गया है—

"युगल निकुञ्जरहस्य नवलरस। सो सद्गुरु उपदेश करै तस।"

'अर्थपंचक' में रहस्यसम्प्रदायी तान्त्रिकों की भाँति कहा गया है कि परात्पर ब्रह्म के इस रहस्यमय (रस) स्वरूप का वास्तविक मर्म गुरुमुख से ही जाना जा सकता है।

ये उद्धरण स्पष्ट करते हैं कि माधुर्यभाव की साधना एक रहस्यमय और गोपनीय साधना है। रसिक सम्प्रदाय के आलोचकों ने कहा है—एक अप्रकट लीला मन-वृन्दावन में होती है, अथवा हृदयदेश में लीला का स्फुरण होता है—ये बातें भी मेरे पक्ष में हैं। देवकवि का उपर्युक्त उद्धरण मन-वृन्दावन की

अप्रकट लीला का ही निदर्शक है। घट के भीतर लीला का स्फुरण ही तो रहस्यवाद के असाधारण लक्षणों में एक उल्लेखनीय लक्षण है। अष्टसखी की अष्टदल कमल के रूप में कल्पना और 'बिन्दु' के रूप में 'महाभाव' का उल्लेख साधना की अन्तरंग एवं गुह्य प्रवृत्ति का ही निदर्शक है।

समस्त गुह्य साधनाएँ राग-मार्ग का आदर करती हैं और काम-वासना के परित्याग की जगह उसका रूपान्तरण करती हैं—उन्नयन और दिव्यीकरण करती हैं। डॉ. रूपनारायण ने भी निर्गुणियों एवं सगुणियों में व्याप्त इस सामान्य तथ्य को स्वीकार किया है। तुलसी, सूर, नन्द एवं घनानन्द की व्यक्तिगत घटित घटनाएँ इस रूपान्तरण की प्रक्रिया का समर्थन करती हैं। ये माधुर्य भाव के उपासक जिस मूलतत्त्व को प्रेममय कहते हैं वह चिन्मय कहा गया है और मनोमय जगत के परे की वस्तु समझा गया है। मैंने 'रहस्य' का जो स्वरूप माना है—वहाँ यही तो दो शर्तें कही गयी हैं कि एक तो उसे 'अबुद्धि-बोध्य' होना चाहिए दूसरे 'अनुभूति-सिद्ध चिन्मयता' वहाँ होनी चाहिए। इस अनुभूति वेद्य 'रस'मय तत्त्व में क्या ये दोनों बातें नहीं हैं ? कहा जा सकता है कि फिर तो समस्त आध्यात्मिक साधनाएँ 'रहस्य' हैं। निःसन्देह सभी आध्यात्मिक साधनाएँ रहस्य हैं—पर ध्यान रखने की बात यह है कि यहाँ 'रहस्य' के स्थूलतः दो पक्ष रखे जा रहे हैं—साध्य एवं साधन। साध्य रूप में वह 'रहस्य' है जो अबुद्धि-बोध्य, अतीन्द्रियगम्य पर अनुभवगम्य है और साधन रूप में उसको प्राप्त करनेवाली वे विधाएँ रहस्य हैं, जो 'गोपनीय' मानी जाती हैं—इसीलिए सगुण भक्ति की वैधी भक्ति अथवा माधुर्येतर भक्तियाँ रहस्यमय नहीं मानी जातीं—पर 'माधुर्य-साधना' को इसके साधकों और आचार्यों ने नितान्त रहस्यमय माना है और व्यक्तिगत उपासना को निगम माना है। भक्ति की अन्य विधाओं की तुलना में जितनी गोपनीयता और गुरुमुखैकगम्यता तथा क्षुरधारमयता माधुर्य-साधना में है—उतना अन्य रूपों में नहीं। यही कारण है कि न मैं साध्य रूप में इन्द्रियवेद्य तत्त्व के रहस्य कह रहा हूँ और न साधन रूप में समाजस्वीकृत प्रकाश्य साधनाओं को। यद्यपि वे भी अध्यात्म साधना के आरम्भिक या आन्तरालिक पक्ष हैं।

देवयानी धारा—रहस्यानुभूतियाँ

रहस्यवादी प्रवृत्तियों का ऊपर जहाँ उल्लेख किया गया है—वहाँ यह भी बताया गया है कि एक रहस्यवादी प्रवृत्ति यह है कि मूलतत्त्व 'एक' है, उससे दो और फिर अनेक का उद्‌भव होता है। एक से अनेक होने के मूल में लीला का भाव ही विद्यमान है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि 'माधुर्योपासना' गोप्य या रहस्यमयी साधना है। इस साधना के लोग मूलतत्त्व को 'प्रेमतत्त्व' के रूप में मानते हैं। वही अव्यक्त एवं मूल प्रेमतत्त्व जब मूर्त्त होता है तो प्रिय (राम-कृष्ण) एवं प्रिया (सीता-राधा) या उनकी नित्य विहारात्मक लीला के रूप में आता है। इन माधुर्य भाव के साधकों में दो धाराएँ उपलब्ध होती हैं—कहीं-कहीं तो

जीवगण ही 'प्रिया' के रूप में हैं और 'प्रिय' के साथ निष्पन्न होनेवाले माधुर्य का साक्षात् आस्वादन करते हैं। उदाहरण के लिए आलवारों या निर्गुणियों के माधुर्य भाव को लिया जा सकता है। पर मध्यकालीन माधुर्योपासक सगुण वैष्णव भक्तों में हमें दूसरी स्थिति भी मिलती है। यहाँ जीवगण साक्षात् प्रियतमा (राधा-सीता) नहीं हैं—वे 'गोपी', 'मंजरी' अथवा 'सखी' हैं—और 'सीता-राम' अथवा 'राधा-कृष्ण' जैसी 'युगल' मूर्तियों के नित्य विहार के माध्यम से 'माधुर्य' भाव का आस्वादन करते हैं।

राधा-कृष्ण को उपास्य मानकर चलनेवाली धारा में निम्बार्की, वल्लभी, राधावल्लभी, हरिदासी एवं गौड़ी—ये पाँच धाराएँ ऐसी हैं—जो 'माधुर्य' भाव की साधना में आस्था रखती हैं। मध्यकालीन कृष्णाश्रयी एवं रामाश्रयी धारा में माधुर्य भाव की पहले अभिव्यक्ति और प्रचलन कृष्णाश्रयी धारा में ही हुआ—अतः पहले उसी धारा की रहस्यानुभूतियों का विवेचन किया जा रहा है—

उपर्युक्त सामान्य विशेषताओं के बावजूद इन पाँचों धाराओं की माधुर्य-भावना में थोड़ा-थोड़ा अन्तर भी है। ये सभी यह मानते हैं कि 'लीला' के ही स्मरण, श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन से परम प्रेमतत्त्व या माधुर्य भाव का अनिर्वचनीय आस्वाद मिलता है और यह लीला गोकुल या वृन्दावन की 'रासलीला' है। लीलाधाम द्वारका और मथुरा भी है—पर वह माधुर्य भाव की नहीं है—यही कारण है कि इन लोगों ने 'गोकुलधाम' या 'वृन्दावनधाम' को अधिक महत्त्व दिया है। वृन्दावन की लीला में भी कई स्तर हैं—ब्रजलीला, कुंजलीला और निकुंजलीला। ब्रजलीला का गान करनेवालों ने माधुर्य के साथ अन्य (वात्सल्य, सख्य आदि) लीलाओं का मिश्रण किया है, परन्तु निकुंजलीला विशुद्ध माधुर्यमयी लीला है। कृष्णाश्रयी शाखा के इस माधुर्यभाव का मूलस्रोत भागवत ही है—इसमें सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं है।

कृष्णाश्रयी माधुर्यात्मिका रहस्य साधना की उक्त पाँचों धाराओं की जहाँ तक पारस्परिक भेदक विशेषताओं का सम्बन्ध है—कहा जा सकता है कि वल्लभाचार्य की कैशोर उपासना में 'राधा' को 'स्वकीया' माना गया है और चैतन्य सम्प्रदाय में 'परकीया'। राधावल्लभी मत में राधा में स्वकीया-परकीयाभाव का सह-अस्तित्व माना गया है जबकि हरिदासी में 'राधा' उभयातीत हैं। यही कारण है कि जहाँ वल्लभाचार्य में स्वकीयाभाव के स्वीकार के बावजूद 'विरह' में लीला का अनेकविध प्रकाशन सम्भव होने से 'विरह' में ही अधिक आस्वाद माना गया है वहाँ निम्बार्की धारा में स्वकीयाभाव के स्वीकार के बावजूद 'संयोग' दशा में अधिक आस्वाद माना गया है। यद्यपि वल्लभाचार्य और निम्बार्काचार्य की धारा में राधा को 'स्वकीया' ही माना जाता है—तथापि दोनों धाराओं की अन्य अनेक भेदक विशेषताओं के साथ एक भेद यह भी माना जाता है कि जहाँ वल्लभाचार्य के यहाँ जीवगण 'गोपीभाव' से माधुर्यास्वाद लेते हैं वहाँ निम्बार्की 'सखीभाव' से युगलमूर्ति के नित्यविहार का माधुर्यास्वाद लेते हैं। चैतन्य सम्प्रदाय में वल्लभी

की भाँति 'विरह' दशा को ही महत्त्व दिया गया है—वहीं 'औपपत्य-शृंगार' की चरम अनुभूति मानी गयी है—पर फिर भी अन्तर 'राधा' को 'परकीया' मानकर कर लिया गया है। दूसरा अन्तर चैतन्य का वल्लभी धारा से यह भी है कि जहाँ वल्लभी धारा में 'माधुर्य' का आस्वाद 'गोपीभाव' से लिया जाता है वहाँ चैतन्य में 'मंजरीभाव'[1] से। राधावल्लभी एवं हरिदासी सम्प्रदाय में 'नित्यविहार' का आस्वाद 'सखीभाव' से लिया जाता है—फिर भी दोनों का अन्य उपर्युक्त माधुर्य विषयक धारणा से यह अन्तर है कि राधावल्लभी मत में 'राधा' में 'स्वकीयाभाव' मानकर नित्य संयोग भी माना जाता है और परकीयाभाव मानकर 'नित्य वियोग' की भी कल्पना की जाती है। इस प्रकार निरन्तर वियोगवृत्ति से भाषित युगलमूर्ति निरन्तर संयोग का जो आस्वाद करती रहती है—वह केवल संयोग या केवल वियोग की भावना से बड़ी है—जबकि 'हरिदासी' सम्प्रदाय में युगलमूर्ति के नित्य विहार के आनन्दानुभव को संयोग-वियोग की सामान्य अनुभूतियों से परे ऊपर उठाकर सर्वथा अनिर्वचनीय कह दिया जाता है और महाशक्ति रूपा आराध्या 'राधा' को स्वकीया-परकीयाभाव निर्विशेष संवलित कहा जाता है। इस प्रकार मध्यकालीन कृष्णाश्रयी माधुर्य भाव की गोप्यसाधना की ये विभिन्न धाराएँ हैं —जहाँ के रहस्यदर्शी अनुभवी वैष्णवों ने माधुर्य भाव की 'सिद्धदशा' का अनुभव किया है।

ऊपर माधुर्य भाव की विभिन्न धाराओं के जिन भेदक तत्त्वों का निर्देश किया गया है --यह स्थूल दृष्टि से विवेक, विचार या दार्शनिक भूमिका पर ही कुछ दूर तक कहा-सुना जा सकता है। रहस्यदर्शी वैष्णव कवियों की मधुर वानियों में ये सभी तत्त्व घुले-मिले रूप में सर्वत्र मिलेंगे। इस तथ्य का सोदाहरण निरूपण करने का यहाँ अवकाश नहीं है—पर यह एक ध्यान में रखने की बात अवश्य है। दार्शनिक वैष्णव आचार्य सभी भेदवादी हैं—पर कौन-सा ऐसा माधुर्य भाव का रहस्यदर्शी है—जो अद्वयदशा का उल्लेख नहीं करता ? संयोग या स्वकीया-भाव में आस्था रखनेवाले आचार्यों के शिष्यों (सूर एवं नन्द आदि) में भी 'विरह' और परकीयाभाव की प्रशंसा क्या नहीं मिलती ? लाड़िलीदास ने अपनी 'सुधर्म बोधिनी' में स्पष्ट कहा है—

जीव ईश मिलि दोय, नाम रूप गुण परिहवे।
रसिक कहावे सोय, ज्यों जल घोरे शर्करा।

अथवा

जल तरंग भूषण कनक, घट माँटी पर तंत।
खेल खिलाड़ी यों सदा, ओतप्रोत लसंत।।

अथवा

1. नन्ददास के साहित्य में चर्चित 'मंजरी'।

प्रेम हरी को रूप है त्यों हरि प्रेम स्वरूप।
एक होइ द्वै मैं लसैं, ज्यों सूरज अरु धूप ।।

क्या इन पंक्तियों में 'अद्वय' भाव नहीं है ? निष्कर्ष यह कि आरम्भिक भूमिकाओं में अवश्य भेदक रेखाएँ उपासक के प्रकृति-भेद वश मिलेंगी, परन्तु रहस्यानुभूति की चरम दशा में समस्त द्वयताएँ या भेद तिरोहित हो जाते हैं।

सम्प्रति, रहस्यवाद की परिधि में आलोच्य ऊपर निर्दिष्ट उन्हीं चार पक्षों की दृष्टि से इस धारा की दोनों शाखाओं (कृष्णाश्रयी एवं रामाश्रयी) की रचनाओं में उपलब्ध रहस्यवादी प्रवृत्तियों या विशेषताओं को देख लें।

पार्यन्तिक दशा

सभी रहस्यदर्शियों की चरम दशा ऐसी समाधि दशा है—जहाँ 'सामरस्य' या 'तादाम्य' या 'केवल' की स्थिति रहती है—समस्त भेदों का तिरोधान या विगलन या विलयन हो जाया करता है—असीम उल्लास, सुख या रस की अनुभूति होती है। कृष्णाश्रयी धारा की किसी भी उपधारा के रहस्यदर्शी को लें, जैसे—वल्लभ सम्प्रदाय के महाकवि सूरदास को ही लें। उनके यहाँ लीलागान तथा लीलाध्यान के माध्यम से गोपीभाव की प्राप्ति द्वारा रासलीला में प्रवेश होता है। वैष्णव वार्ताओं में कहा गया है—"पाछें सूरदासजी को मूर्छा आयी। तब श्री गुसाईंजी कहें कि सूरदासजी चित्त की वृत्ति कहाँ है तब सूरदासजी ने एक पद कह्यो। सो पद—

वलि-वलि ठौ कुमक राधिका नन्द सुवन जासों रति मानी।
ये अति चतुर तुम चतुर सिरोमनि प्रीति करी कैसे होत है छानी ।।
ये जु धरन तन कनक पीतपट सो तो सब तेरी गति ठानी।
ते पुनि श्याम सहज ये शोभा अम्बर मिस अपने उर आनी ।।
पुलकित अंग अब ही ह्वै आयो निरखि देखि निज देह सिरानी।
सूर सुजान सखी के बूझे प्रेम प्रकाश भयो विहसानी ।।"

इस पद से कितना स्पष्ट है कि समाधि दशा मूर्छा की-सी दशा है—जहाँ व्यक्ति बाह्य-अनुभूतियों से विमुख रहता है। सत्त्वस्थमन अन्तर्मुख होकर चरम दृश्य 'लीला' का अनुभव करता है और उसके देखने से उस 'रस' की चरम अनुभूति में विलीन हो जाता है—सब तरफ़ प्रेम का ही प्रकाश छा जाता है। इस वर्णन से यह भी स्पष्ट है कि समाधि की चरम दशा केवल अनुभव की दशा है—कथन या अभिव्यंजन की स्थिति तो व्युत्थान की दशा है—जहाँ उतरने पर ही साधक या सिद्ध उस दशा का किंचित्-किंचित् अभिव्यंजन करता है। अभिव्यंजना का विषय दृश्य 'लीला' और उसका 'उल्लास' या 'सुखमयी' दशा है। इन पंक्तियों में एक ओर उल्लास का पुंलक और दूसरी ओर प्रेम का लीलात्मक व्यक्त रूप—दोनों ही चित्रित हैं।

माधुर्य भाव की उपासना के अन्तर्गत तीन पक्ष हैं—कान्ता भाव, गोपी भाव

एवं सखी भाव। निर्गुनियाँ सन्तों में भी ऊपर माधुर्य भावपरक पदों का उल्लेख किया गया है जिनमें यह बताया गया है कि किस प्रकार उनकी रागात्मक-साधना-जन्य वियोग एवं संयोग की अनुभूतियाँ प्रकाशित हुई हैं। इस दृष्टि से अंशतः निर्गुनियों एवं सगुनियों में साम्य अवश्य है—पर अन्य दृष्टियों से अन्तर भी है। रसिक सम्प्रदाय की कृष्णाश्रयी धारा में जीवगण तटस्था-शक्ति के रूप हैं—अतः भगवान् कृष्ण की ह्लादिनी या आह्लादिनी शक्ति राधा का स्थान तो कोई पा नहीं सकता। यही कारण है कि 'रस' या 'प्रेम' का जितना प्रगाढ़ एवं उन्मुक्त रूप कृष्ण का अपनी निजी शक्ति से विहार करते समय प्रकट होगा—उतना अन्य के साथ नहीं। यही कारण है कि गोपी भाव के उपासक तो राधा के माध्यम से ही नहीं—स्वयं भी कृष्ण से कान्ता रूप में श्रृंगार का रस ले सकते हैं, पर सखी भाव के उपासक तो सदा-सर्वदा राधा एवं कृष्ण से नित्य विहार दर्शन के माध्यम से ही 'रस' का आस्वाद कर सकते हैं—साक्षात् नहीं। वस्तुतः प्रेमतत्त्व राधा एवं कृष्ण के माध्यम से ही साकार होता है और उसकी लीला से पुनः उसी की (प्रेम की) अनुभूति होती है। रसिकों ने यही कहा है राधा[1] और कृष्ण स्वतः नहीं नाचते—यह तो प्रेम है जो इतना परिपूर्ण है कि निरन्तर उच्छलित होना चाहता है और लीला के रूप में उसकी अभिव्यक्ति होती रहती है—

नाइक तहाँ न नायिका, रस करबाबत खेलि।
सखी, उभै संगम सरस, पियत नैनपुट झेलि॥

सखियाँ कुंज एवं निकुंज गत नित्य विहार के दर्शन से आनन्दमग्न होती हैं—ठीक उसी प्रकार जैसे सहृदय मंचस्थ श्रृंगारी लीलाओं को देखकर आनन्द-मग्न हुआ करता है—पर इतना अन्तर अवश्य है कि मंचस्थ लीला का अंग सहृदय नहीं होता, जबकि सखियाँ लीला का अंग हैं। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि निर्गुनियों की भाँति यहाँ के साधक साक्षात् राधा भाव या कान्ता भाव से तटस्थ हैं। दूसरा अन्तर यह है कि जिस प्रकार इन रसिकों का चरमदृश्य एवं प्राप्य लीला और तज्जन्य रसानुभूति है—वही उनका वर्ण्य है—वैसी बात निर्गुनियों में नहीं है। निर्गुनियों के चरम प्राप्य एवं दृश्य तथा वर्ण्य किस प्रकार भिन्न हैं—यह ऊपर दिखाया जा चुका है। निर्गुनियों के यहाँ ऐसी माधुर्यभावापन्न व्यंजनाएँ अपना महत्त्वपूर्ण स्थान अवश्य रखती हैं, पर वही प्राप्य या 'पर तत्त्व' का स्थान नहीं ग्रहण करता।

पार्यन्तिक दशा का ही उल्लेख करते हुए हरिदासी सम्प्रदाय के विहारिन देव का कहना है—

मन मनसा आसा मगन तन की कछु न सम्हार।
बिहारीदास नाम कहै निरखै नित्य बिहार॥

1. प्रेम नचावत नचत सब जहँ लौं धामी धाम।
सो नाचत हित नाम बस सेवक चित विश्राम॥

अर्थात् नामोपासना से रसिक साधक उस नित्य विहार का साक्षात्कार करता हुआ अन्ततः उस दशा को पहुँच जाता है जहाँ पर तन की सुधि विस्मृत हो जाती है—देहात्मबोध की दशा नहीं रह जाती। व्युत्थान दशा में आने पर विविध प्रकार की लीलाओं के गान से इनका समस्त साहित्य ओतप्रोत रहता है। एक उदाहरण लें—

अंगन संग लसें विलसें परसे सुख सिंधु न रूप अघै हौं।
रूप लखे नित माधुर बैन श्रवण सुचैन सुने गुण गैहों।
दंपति संपति संचि हियें धरि या सुख तें न कहूँ चलि जैहों।
नित्य विहार अधार हमार विहार विहारिनी की बलि जैहों।

[बिहारिन देव की वाणी]

प्रयोगतः ही नहीं सिद्धान्ततः भी इन लोगों ने आरोहसाध्य विविध भूमिकाओं का उल्लेख किया है और बताया है, प्रथम सोपान में भागवत श्रवण, द्वितीय सोपान में नवधा भक्ति का अनुसरण, तृतीय सोपान पर गुरु धारण, चतुर्थ पर वृन्दावनवास, पाँचवीं अवस्था में देह-सुधि का विस्मरण तथा लीला-रमण, छठे सोपान पर लीला का भी विस्मरण और पार्यन्तिक भूमि पर 'प्रेम' ही शेष रह जाता है।[1] हरिदासी सम्प्रदाय की दृष्टि से यही पार्यन्तिक भूमि है। अन्य सभी धाराओं की अपेक्षा दर्शन-निरपेक्ष रहकर 'रस साधना' में मग्न रहनेवाली धारा यही है। इसीलिए इसी की पार्यन्तिक भूमिका यहाँ प्रस्तुत की गयी है।

रामभक्ति धारा की पार्यन्तिक भूमिका भी रसमयी है—उस धारा में भी कहा गया है—

प्रकृति पुरुष से जो परे परमतत्त्व रस रासि।
सो वह परम उपासना, वहै सु परम उपासि ।।[2]

यहाँ भी 'प्रीति' की परिणति 'महाभाव' के रूप में मानी जाती है। 'महा-भाव' का भी दो सोपानों में विकास है—आरूढ़ तथा अधिरूढ़। पहली दशा में 'विहार' का आविर्भाव-तिरोभाव होता रहता है जबकि दूसरी में नहीं—वहाँ सदा संयोग रहता है। 'अधिरूढ़' दशा में भी दो सोपान हैं—मादन एवं उन्मादन। पहली दशा में 'रासलीला' दर्शक मस्त रहता है—और अन्तिम दशा में युगलानुराग के उत्कर्ष का अनुभव करता हुआ वह आत्मविभोर हो जाता है और भेदमात्र का विस्मरण करता हुआ प्रियतम के ही रंग में रंग जाता है। उसी पार्यन्तिक दशा का चित्रण प्रस्तुत करते हुए 'प्रीतिपचासिका' में रहस्यदर्शी के लिए कहा गया है—

चित्र वचन बोलत, नयन उद्घूरन, बेहोश।
दशा दिवानी नेम दिन, हर साइत जन जोश।।

1. भगवत रसिक की वाणी : पृष्ठ 78-79।
2. नेह प्रकाश, 148 छंद।

इस दशा को 'निकुंज सेवा रस', 'महान माधुर्य'—आदि नामों से बोधित किया गया है। यही युगलकेलि का लोकोत्तर रसास्वाद होता है।

पूर्ववर्ती अनुभूतियाँ

इस चरम दशा में पहुँचने से पूर्व भी रहस्यमयी अनुभूतियों के अन्य पक्षों की झलक रसिक साहित्य में उपलब्ध होती है। ऐसी अनुभूतियों में एक तो 'धाम' का विवरण है, दूसरे सूफियों की भाँति जगत को उपास्य के प्रति ललक या लगन को तीव्र बनानेवाले साधन के रूप में उल्लिखित किया जाता है।

जहाँ तक 'धाम' या 'लोक' की बात है—यह कहा गया है कि भक्ति की वास्तविक साधना अप्राकृत या भाव देह या सिद्ध देह की प्राप्ति से होती है—जो गुरु द्वारा बीज-नयन की परिणति है। इसी भावदेह (उपासक की भावानुरूप देह) या सिद्धदेह से लीलाधाम में प्रवेश होता है—तब उत्तरोत्तर प्रयास से रस-दशा की पार्यन्तिक भूमिका की ओर साधक या भक्त अग्रसर होने लगता है। इस वास्तविक साधना काल विरहानुभूतिवश अनेकविध लीलाओं का साक्षात्कार होता है। यह 'धाम' भी भावानुरूप अनेक प्रकार का हो सकता है। इस धाम में पहुँचकर आवर्तक्रम से पार्यन्तिक दशा को प्राप्त किया जा सकता है। राम साहित्य और कृष्ण साहित्य—उभयत्र गोलोक की विशेष महिमा है। रामभक्त मानते हैं कि इसी के मध्य साकेतधाम है, साकेत बीच विहारोपयोगी कनक भवन है जिसके बीच कल्पवृक्ष है। इसके नीचे एक दिव्य मण्डप है जिसके मध्य रत्नमय सिंहासन के बीच सहस्रदल कमल है। इसी की उन्नत कर्णिका पर एक बिन्दु है—जिस पर आह्लादिनी शक्तिमयी सीता के साथ राम विराज रहे हैं। इनके सभी प्रकार के परिकर वहाँ स्थित रहते हैं। कृष्ण भक्तों के यहाँ अनेकधा धामों और लोकों का वर्णन मिलता है। सामान्यतः नित्यवृन्दावन या गोलोक का विवरण बड़े धूमधाम से मिलता है। माधुर्य भाव की विशुद्ध लीला का धाम यही है।

प्रस्तुत दोनों ही धाराओं में सूफियों की व्यापक भावव्यंजना के समानान्तर एक प्रवृत्ति यह मिलती है कि परमात्मा और जीवात्मा के बीच जगत की (कबीर की तरह) उपेक्षा न हो—बल्कि उसका भी उपयोग अपनी भावनाओं के अनुरूप किया जाये। गौड़ी सम्प्रदाय के रहस्यदर्शी गदाधर भट्ट की एक वाणी लें।

हरि की नवघन करत आरती।
गर्ज्जनि मंद शंखध्वनि सुनि मति दादुर वेद भारती।
पंचरंग पाट बानि सुरधनु की दामिनि दीप उज्यारती।
जलकन कुसुम जाल बरसावत वगगण चमरनि ढारती।
घंटा ताल झाँझि झालरि पिक चातक केकी क्वान।
ताते भयो गदाधर प्रभु के श्यामल अंग समान ॥

इन पंक्तियों में जैसे वर्षाकालीन समस्त प्रकृति के उपकरण मिलकर

महानीराजना का दृश्य प्रस्तुत कर रहे हों ।

इसी प्रकार उन्हीं गदाधर भट्ट की एक वाणी और लें और देखें कि किस प्रकार वसन्त-वर्णन में भावनात्मक रहस्यवाद का रंग छाया हुआ है—

देखोऊ प्यारी कुंजबिहारी मूरतिवंत बसन्त।
मोरी तरुण तरलता तन में मनसिज रस बरसन्त।
अरुण अधर नव पल्लव शोभा बिहसनि कुसुम विकास।
फूले विमल कमल से लोचन सूचित मन को हुलास।
चल चूर्ण कुन्तल अलि माला मुरली कोकिल नाद।
देखियत गोपीजन बनराई मुदित मदन उन्माद।
सहज सुवास स्वास मलयानिल लागति सदाति सुहायो।
श्री राधा माधवी गदाधर प्रभु परसत सुख पायो॥

इन पंक्तियों में वसन्त के रूप में उसी मधुर मूर्ति को देखा है।

इसी प्रकार की प्रवृत्ति रामाश्रयी रसिक धारा में भी दिखायी पड़ती है—नीचे निध्वाचार्य राम सखे के 'ततपराघव मिलन' से कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं—जहाँ यह स्पष्ट लक्षित हो रहा है कि किस प्रकार भक्त को संसार की सुन्दर वस्तुओं का उपयोग राम के प्रति राग को उद्दीप्त करने में करना चाहिए—

हेरि कोउ सुन्दर नर नारी। राम वियोग करहिं अति भारी।
वेष नृपति छैलन असवारी। आवत राम ध्यान छविकारी।
सुनि कोकिल कर कूक मृदु, नटनि मयूर निहारि।
रामसखे मन करत झष, मिलन राम छवि कारि॥
सूँघि सुगंध राग सुनि काना। लावत नयनन राम सुजाना।
लखि श्रावण घन तड़ित शरद ससि। रह रघुनंदन विरह चित्तगसि।
देखि कुसुम वसंत ऋतु शोभा। छावत राम प्रेम उर गोभा।
कहुँ विलोकि नग जटित नूपुरन। अवध लाल कर रूप चुभत मन।

नामजप अथवा मन्त्रस्मरण सभी रहस्यमार्गी साधकों का साधनार्थ प्रथम प्रयास हुआ करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रहस्यदर्शियों की अनेकविध समान प्रवृत्तियाँ इन सगुण धाराओं में भी मिलती हैं। निर्गुनियों की भाँति सगुनियों में भी इसी घट के भीतर परमात्मा की रहस्यमयी लीला का साक्षात्कार होता है। इससे बढ़-कर और रहस्यमयता का प्रतिपादक तत्त्व क्या हो सकता है ? भक्तिकाल की चारों धाराओं में—जो माधुर्य-साधना की ओर उन्मुख हैं—अनेक समान प्रवृत्तियाँ उपलब्ध होती हैं। साम्यप्रतिपादक तत्त्वों के साथ भेदक रेखाएँ भी उप-लब्ध होती हैं। कृष्ण भक्ति एवं राम भक्ति की माधुर्य साधनाओं में पहला अन्तर तो यह है कि जहाँ कृष्णभक्ति धारा की माधुर्य भक्ति विशुद्ध शृंगारिक और आर्यपथ का अतिक्रमण कर सकती है—वहाँ रामधारा की माधुर्य भक्ति

श्रृंगार एवं ऐश्वर्य के कूलों में मर्यादा के आवरण में प्रवाहित होती है। दूसरा अन्तर यह है कि जहाँ कृष्णभक्ति धारा में परकीया भाव को सर्वाधिक महत्त्व है अथवा स्वकीयाभाव को उपेक्षित कर दिया गया है वहाँ रामधारा में इसे अन्त तक महत्त्व दिया गया है। परिणाम यह हुआ है कि जहाँ रामधारा में वियोग-रहित संयोग की ही स्थिति सम्भव है—वहाँ कृष्णधारा में संयोग के अतिरिक्त वियोग तो है ही, वियोग-संवलित संयोग की भी अतृप्तिगर्भित तृप्ति हुआ करती है। दोनों शाखाओं की तत्सखीभाव एवं स्वसुखीभाव सम्बन्धी धारणाओं में भी अन्तर है। यह तो ऊपर बताया ही जा चुका है कि निर्गुण धारा के रहस्यसाधक भी माधुर्य भाव या कान्ता भाव के साधक हैं—पर उनकी कान्ता भाव की साधना का पर्यवसान आह्लादिनी शक्तिरूपा सीता एवं राधा के साथ परिनिष्पन्न विहार-दर्शन तथा तज्जन्य सुखास्वाद से विलक्षण है। यहाँ अर्थात् निर्गुण धारा में प्रत्येक जीव कान्ता भाव से रागवृद्धि करता हुआ, पारस्परिक भेदक सीमाओं को पार कर जाता है और स्वयं आह्लादिनी शक्ति के समान परमात्मा से समरस हो जाता है। सगुण एवं निर्गुण धाराओं की लोक-लोकान्तर की कल्पनाएँ भी अपनी-अपनी भावनाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न हैं। साथ ही आन्त-रालिक यात्रा की प्रक्रियाओं एवं अनुभूति में भी भेद का होना नितान्त सम्भव है—जिसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है। किन्तु इन सब आन्तरालिक साम्य-वैषम्य संस्थापक तत्त्वों के बावजूद पार्यन्तिक दशा सबकी भेदरहित एवं आनन्दमयी है।

ये सभी उक्त साधनाएँ आज भी किसी न किसी रूप में जीवत हैं और चल रही हैं—उनका साहित्य भी निर्मित हो रहा है—पर इन धाराओं में प्रवाहित रहस्यवादी प्रवृत्तियों के साथ हमें हिन्दी साहित्य के इतिहास में '20-'36 तक की सीमा में विशेष रूप से निर्मित होनेवाले छायावादी काव्य की 'रहस्यवादिता' का भी परीक्षण, विश्लेषण तथा मूल्यांकन प्रस्तुत करना है।

ऊपर की पंक्तियों में रहस्यवादी या रहस्यात्मक अनुभूतियों का जो विवरण प्रस्तुत किया गया है—उससे स्पष्ट है कि उनके मूल में एक विशिष्ट 'साधना' है, केवल चिन्तना, भावना और कल्पना नहीं। ऊपर निर्दिष्ट रहस्यात्मक अनुभूतियाँ साधकों, भक्तों एवं सन्तों के उद्गारों से चुनी गयी हैं। छायावादी साहित्यकार मुख्यतः साहित्यकार हैं—काव्य-प्रणेता हैं—उनके सारे प्रयास के मूल में चिन्तना, भावुकता एवं कल्पना है। पहले के रहस्यवादियों में रहस्योद्गार काव्यात्मक परिणति यदा-कदा या सर्वदा पा लेते थे और परवर्ती छायावादी काव्य ही रहस्यात्मक परिणति लेता है—पहले रहस्योद्गार में काव्यात्मकता थी और अब काव्य में रहस्यात्मकता है। इस उलटबाँस का 'रहस्य' अब समाधेय होकर सामने खड़ा है—मूल 'रहस्य' को तो अभी पीछे छोड़िए। यहाँ अनेक प्रश्न प्रस्तुत हैं। रहस्योद्गारों से फूटी हुई काव्य की अरुण आभा जो स्वयं 'रहस्य' को कुक्षिसात् कर रही है—यह कहाँ तक सम्भव है और किस प्रकार सम्भव है? यह भारतीय

काव्यधारा की सहज परिणति है अथवा असहज ? छायावादी काव्य का 'रहस्य' सचमुच अर्थतः 'रहस्य' है या केवल मुखौटा है ? क्या छायावादी कवि भी ऐसा मानते हैं कि उन्होंने 'रहस्यवाद' की सृष्टि की है ? और मानते भी हैं तो क्या उसी अर्थ में—जिसमें मध्यकालीन या औपनिषद साधक स्वीकार करते हैं ? साथ ही यह भी प्रश्न है कि यदि छायावादी रचनाओं में कहीं रहस्यात्मकता नहीं है तो क्या सर्वसम्मत स्पष्टता है ? और स्पष्टता नहीं है तो क्या यहाँ के 'रहस्य' का अर्थ 'अस्पष्टता' ही है ? यदि 'अस्पष्टता' है तो क्या उसका कारण अनुभूति की लोकोत्तरता है या अन्य कुछ—वैयक्तिकता या जानबूझकर लाई गयी उलझन—ये तमाम प्रश्न हैं जो छायावादी रहस्यानुभूति को विश्लेषित करने के लिए उठ खड़े होते हैं।

प्रथम अध्याय में कवि और रहस्यदर्शी की एकता और अनेकता पर विचार करते हुए यह कहा गया है कि रहस्यदर्शी और कवि कभी प्रसादजी की दृष्टि में पर्याय रहे होंगे—जिसके समर्थन में उन्होंने 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः'—कहा है, पर अब सामान्यतः इसे कोई स्वीकार्य नहीं मानता। अब यदि निम्न-लिखित कारणों से कोई कुछ दूर तक आगे बढ़ता है तो यहीं तक रहस्यदर्शी कवि भी हो सकता है और कवि उसी प्रकार कभी रहस्यदर्शी भी हो सकता है—पर दोनों आज पर्याय नहीं हैं।

कवि और रहस्यदर्शी की पर्यायरूपता तो पृथक् है—आज का समस्त काव्य-चिन्तक एक मत से यह भी नहीं स्वीकार करता है कि कवि कभी रहस्यदर्शी भी होता है। भौतिकवादी काव्यचिन्तक तो किसी अभौतिक 'रहस्य' की सत्ता ही नहीं मानते—अतः उनकी दृष्टि से यह सवाल नहीं उठता। रामचन्द्र शुक्ल जैसे दार्शनिक आलोचक किसी अभौतिक 'रहस्य' को स्वीकार करते हुए भी यह नहीं मानते कि काव्य का विषय 'रहस्य' है और कवि रहस्यदर्शी है। मनोगोचर 'व्यक्त' जगत ही उनकी दृष्टि में काव्य का विषय है। आधुनिक कवियों के रहस्यवादी मुखौटे से तो शुक्लजी इस प्रकार झुँझला उठे हैं कि उसी आवेश में उन्होंने यह भी कह दिया कि 'अध्यातम' शब्द तक को काव्य की सीमा से बाहर कर देना चाहिए। उनकी इस झुँझलाहट के मूल में 'अध्यातम' का दुरुपयोग ही कारण है।

अभौतिक 'रहस्य' में आस्था रखनेवाले जो भाववादी काव्यचिन्तक हैं उन्होंने काव्य-विवेचन के सन्दर्भ में ऐसी अनेक बातें और उपपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं—जिससे यह सिद्ध होता है कि कवि रहस्यदर्शी की दशा में भी पहुँच सकता है। उदाहरणार्थ, 'प्रेरणा'-सिद्धान्त को ही लें—वहाँ काव्य-प्रेरणा को रहस्यमय सिद्ध किया गया है। भारतीय चिन्तकों ने काव्यहेतु का विचार किया है और उस सन्दर्भ में 'प्रतिभा' का जो कुछ विचार हुआ है- -उससे उसकी रहस्यात्मकता संकेतित है। लेकिन इसीलिए पश्चिमी चिन्तकों के प्रेरणागत रहस्यात्मकता से भारतीयों की प्रतिभागत रहस्यात्मकता सर्वथा भिन्न प्रकृति की है। भारतीय आचार्यों ने काव्योचित प्रतिभा की स्फूर्ति के लिए दिव्य शक्तियों की उपासना की है—उनका

स्मरण किया है—उनका अनुग्रह माँगा है। इस प्रकार जो 'प्रतिभा' उनमें स्फुरित हुई है—उसका भी विवेचन करते हुए जो कुछ उन लोगों ने कहा है उसका सारांश यह है कि 'प्रतिभा' 'ऋषि' या 'योगी' की अलग होती है और 'कवि' की अलग। ऋषि और योगी की प्रतिभा या ज्ञानचक्षु के आगे समस्त भौतिक व्यवधान टल जाते हैं—फलतः उन्हें दूरस्थ, व्यवहित, अतीत और अनागत सबकुछ—जो औरों के लिए 'परोक्ष' है—इनके लिए अपरोक्ष या समक्ष हो जाते हैं। इनकी यह 'प्रतिभा' योगज ज्ञानचक्षु है, पर सामान्य कविजन की 'प्रतिभा' इससे भिन्न प्रकृति की है। आलंकारिक भाषा में समझाते हुए उसे शिव की विमर्श शक्ति, शिव का तृतीय नेत्र कहा गया है—पर वास्तविकता का उद्घाटन करते हुए दशरूपक के टीकाकार ने कहा है "न हि कवयो योगिन इव ध्यान चक्षुधा ध्यात्वा प्रातिस्विकीं रामादीनामवस्थामितिहास वदुपनिबध्नन्ति, किं तर्हि ? सर्वलोक-साधारणीः स्वोत्प्रेक्षाकृतसन्निधीः धीरोदात्ताद्यवस्थाः क्वचिदाश्रयमात्रदायिनीः विदधति"—अर्थात् "कविगण योगी और ऋषि नहीं होते न ही साधना प्राप्त समाधि में स्फुरित दिव्यज्ञान से सभी विप्रकृष्ट व्यवहित, अतीत और अनागत पदार्थों और रामादि व्यक्तियों का वैयक्तिक रूप में साक्षात्कार कर लेते हैं और उसे काव्य का जामा पहनाते हैं, प्रत्युत जैसा सर्वसामान्य की बुद्धि में आ सके—उसके अनुरूप अपनी 'कल्पना' या 'उत्प्रेक्षा' की आँखों से वर्ण्यमान पदार्थों की कल्पना कर लेते हैं और उसे काव्य में प्रस्तुत करते हैं।" महिमभट्ट ने इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा—

रसानुगुण शब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः
क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः।
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमिति गीयते।।

अर्थात् कवि की प्रतिभा, जिसे शंकर के तृतीय नेत्र से उपमित किया जाता है—है क्या ? वस्तुतः यह कवि के चित्त की वह प्रज्ञानात्मक एकतान और निर्मल स्थिति है—जो रहस्यमय है और जिसमें अनुरूप शब्द एवं अर्थ स्वयं स्फुरित हो रहे हैं। निष्कर्ष यह कि भारतीय आचार्यों की प्रतिनिधि धारणा यह है कि कवि की प्रतिभा अन्य कवि-इतर जनों की प्रज्ञा से इस माने में भिन्न है कि कवि की प्रतिभा में जो पदार्थ स्फुरित होते हैं—वे परोक्ष नहीं, प्रत्यक्षायमाण या बिम्बात्मक होते हैं, साथ ही वे लोकोत्तर होते हैं। लोकोत्तर का आशय केवल इतना है कि वे 'अपूर्व' या 'अतिशय' सम्पन्न होते हैं। 'अतिशय' और 'अपूर्वता' का अभिप्राय भी आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त के शब्दों में महज़ इतना ही है कि वे प्रतीयमान या रस के संस्पर्श से उत्पन्न होनेवाले 'लावण्य' से मण्डित होते हैं। इसीलिए काव्यगत वे ही लोकानुभूत व्यक्ति या पदार्थ अश्रुतपूर्व या अदृष्टपूर्व जान पड़ते हैं। इससे अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। इस प्रकार निष्कर्ष ये हुए—

(क) प्रतिभा दो प्रकार की है—ऋषि या योगीगत तथा कविगत।

(ख) कविगत 'प्रतिभा' ऋषियों की प्रतिभा या समाधिजन्य स्फुरणा से एक

ओर इसलिए पृथक् है कि वह पदार्थों का 'प्रत्यक्ष' नहीं बल्कि प्रत्यक्षायमाण (विम्बात्मक) रूप देखती है और दूसरी ओर सामान्यजन की प्रज्ञा से इसलिए भिन्न है कि उनकी प्रज्ञा में आये हुए पदार्थ प्रत्यक्षायमाण और लावण्य-मण्डित अर्थात् लोकोत्तर नहीं होते।

(ग) कवि प्रतिभागोचर पदार्थ होते हैं—लोकानुभूत ही—व्यक्त जगत के ही—क्योंकि उसकी व्यावहारिक जगत मे रहनेवाले सहृदयों के हृदय में 'संवाद' द्वारा रसात्मक परिणति अभीष्ट है। 'संवाद' कवि और सहृदय के हृदय की एक-रूपता है।

(घ) ऋषि या योगी की प्रतिभा का विषय 'व्यक्त' और 'अव्यक्त' या 'रहस्य' सबकुछ हो सकता है और उसकी वास्तव-अनुभूति की कल्पना के संस्पर्श से काव्यात्मक परिणति भी हो सकती है। पर ध्यान रखने की बात यह है कि ऐसे लोग ऋषि और योगी पहले हैं—कवि बाद में।

(ङ) कवित्व और रहस्यदर्शिता का नियमतः आधारैक्य न मानने का ही परिणाम है कि 'शान्त रस' काव्य या नाट्य में विवादास्पद रहा। वैसे भारतीय चिन्तकों ने उत्तरोत्तर काव्य में भी शान्त रस की वर्णता पर बल दिया और कहा कि यद्यपि 'समस्तसृष्णाक्षयसुखातमा' शम नामक स्थायी भाव इने-गिने लोगों में ही सम्भव है—जहाँ 'शान्त' की निष्पत्ति हो सकती है—पर केवल इसीलिए वह उपेक्षणीय नहीं है कि उसके आस्वादयिता कम हैं। 'भक्ति' की रसात्मकता का विवाद भी काव्य में आध्यात्मिकता का प्रवेश हो या न हो—इसी संघर्ष को सूचित करता है। वैसे भक्त-कवियों ने इसका भी प्रवेश कराया ही।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आरम्भ में काव्य पर 'दर्शन' और 'रहस्यानुभूति' का प्रभाव कम रहा—पर उत्तरोत्तर उसका प्रवेश होता गया। मध्यकाल से पूर्व भी संस्कृत की 'सौन्दर्य-लहरी'-जैसी, रहस्यकाव्यात्मक-जैसी स्तोत्रमयी कृतियों की परम्परा क्षीण-काय रही है। मध्यकाल में वह माँसल-काय हो गई और वर्त्तमान काल भी उस तरह के प्रयासों से अछूता नहीं है।

वर्त्तमान काल के छायावादी कवियों की 'रहस्यमयता' को समझने के लिए 'पश्चिमी' दृष्टि का भी विश्लेषण अपेक्षित है—क्योंकि उसकी पृष्ठभूमि में वह भी सक्रिय है। पहले उन लोगों का 'प्रेरणा' सिद्धान्त और उसकी पुष्टि में दिये गये तर्कों को ही देख लिया जाये। 'प्रेरणा' सामान्य ज्ञान से पृथक् अलौकिक और रहस्यमय मानी गयी है—जो कवि के मनोजगत में बाह्य दिव्यशक्तियों के अनु-ग्रह से आती है। दूसरा दल यह मानता है कि काव्य-प्रेरणा कवि के मन से ही प्रसूत है। फ्रायड इसका स्रोत अचेतन मन को मानते हैं तो रोमेण्टिक कवि शेली उसको आन्तरिक मानता हुआ भी अविश्लेष्य बताता है। प्रो. सी. एम. बावरा आदि के प्रेरणा सम्बन्धी विवेचनाओं को देखने पर—जहाँ प्रेरणा को आलोकमय, आह्लादमय और निर्मल तथा एकाग्र मनोवृत्ति के रूप में लिया गया है—लगता है जैसे भारतीय प्रतिभा सम्बन्धी विवेचन और पश्चिमी प्रेरणा सम्बन्धी विवेचन

में बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव सम्बन्ध है। 'प्रेरणा' से भी अधिक स्वच्छन्दतावादी अथवा प्रतीकवादी कवियों एवं चिन्तकों ने कविव्यापार अथवा 'कल्पना' को रहस्यमयता प्रदान की। यूरोप में ईसाई सन्तों की रहस्यवादिता ने वहाँ के काव्य-क्षेत्र को अधिक प्रभावित किया। दूसरे रोमेण्टिक धारा विषयी प्रधान होने के कारण ऐसी रहस्यमयी रागात्मक भावनाओं को केन्द्र में रखकर चल रही थी—साथ ही 19वीं शताब्दी की अति वैज्ञानिकता ने भी प्रतिक्रिया के रूप में रहस्यवादिता को बढ़ावा दिया। स्वच्छन्दतावादी अथवा प्रतीकवादी चिन्तकों में से ब्लेक का कहना है कि मूलतत्त्व भाव-गम्य है और भाव ईश्वर की एक पवित्र देन है। यहाँ तक की भावना की उपलब्धि ईश्वर की ही उपलब्धि है। भावप्रेरित कल्पना की उछाह में ही रहस्यमय ढंग से उस दिव्यसत्ता की अपरोक्षानुभूति होती है। इस प्रकार की बातें करते हुए ब्लेक ने कवि और रहस्यदर्शी में कोई अन्तर ही नहीं माना। सूफियों के 'क़ल्ब' की भाँति यह कल्पना या Intuitive power भौतिक नहीं, अतिभौतिक पदार्थ है, दिव्यदृष्टि है। यहाँ स्पष्ट ही भारतीय कवि-प्रतिभा एवं पश्चिमी कवि-कल्पना में अन्तर लक्षित हो रहा है। भारतीय ऋषि की प्रतिभा तो अवश्य दिव्यदृष्टि रही, पर कवि-कल्पना कभी भी दिव्यदृष्टि नहीं रही। ब्लेक की इस दिव्यदृष्टि रूपी 'कल्पना' की कल्पना के साथ फ्रांस के प्रतीक-वादियों की धारणा द्रष्टव्य है। वे मानते हैं कि प्रतीकों द्वारा महामन और महास्मृति का आवाहन होता है—जो अपने को व्यक्तिमन और व्यक्तिस्मृति पर प्रकाशित करता है। इस संवाद के फलस्वरूप कवि की कल्पना सक्रिय होती है—जिसके माध्यम से काव्य में रहस्यवाद का जन्म होता है। यूरोपियन रहस्यवाद अपने पुनरुत्थान में मानवतावादी आदर्शों से अनुप्राणित होकर प्रेम, करुणा, समत्व आदि सात्त्विक वृत्तियों द्वारा पाशविक वृत्तियों के शमन का सन्देश सुनाता है और इसी रास्ते 'अव्यक्त' का स्पर्श पाने का प्रयासी है। कालरिज की कल्पना भी अन्ततः एक ऐसी अन्तर्दृष्टि सम्पन्न रूप में प्रकट होती है—जिससे कवि एक दिव्यलोक में अपनी स्थिति का अनुभव करने लगता है। इस प्रकार के विचार यह स्पष्ट करते हैं कि भारतीय काव्यधारा की अपेक्षा पश्चिमी काव्यधारा में 'कविता' और 'रहस्य' का गठबन्धन कहीं अधिक हुआ है और कवि तथा रहस्य-दर्शी को एक करने का प्रयास अधिक किया गया है। इस प्रकार जो प्रथम प्रश्न उठाया गया कि काव्य 'रहस्य' को कहाँ तक और किस प्रकार कुक्षिसात् कर सकता है—उसका उत्तर उभयदेशीय मनीषियों द्वारा इस प्रकार किया गया है। यह स्पष्ट कर दिया गया है कि भारतीय आचार्य ऋषि-प्रतिभा और कवि-प्रतिभा को सर्वथा पृथक् रखकर 'रहस्यानुभूति' को साधनाजन्य अनुभूति ही मानते हैं और साधकों के उद्गारों तक ही उसकी काव्यात्मक या अकाव्यात्मक परिणति मानी है। पर पश्चिमी विचारकों ने कवि और रहस्यदर्शी को समान भूमिका पर ला खड़ा किया है और 'अव्यक्त' को 'साधना' ही नहीं "भवना या कल्पनागम्य' भी कहा है। जहाँ तक मेरी आस्था और मान्यता का

सम्बन्ध है मैं भी उन भारतीय चिन्तकों के ही पक्ष का हूँ जो 'अव्यक्त' का साक्षात्कार 'साधना' गम्य मानते हैं। अतः मैं 'रहस्यवादिता' का सम्बन्ध भी रहस्यदर्शी से ही मानता हूँ। यह बात अलग है कि रहस्यदर्शिता और कवित्व की कभी एक आधारगत सह-स्थिति भी हो सकती है।

दूसरा प्रश्न यह खड़ा होता है कि इन छायावादी कवियों में जो रहस्य-वादिता आयी है—वह भारतीय अद्वैती रहस्यवाद का सहज विकास है—जैसा कि 'प्रसाद'जी मानते हैं या प्रयत्नजन्य ? महादेवीजी का भी विचार है कि वर्त्तमान अपनी समस्त विशेषताओं के साथ अतीत से सम्बद्ध होता है—वह कोई सहसा आकाश से नहीं टपकता। उन्होंने कहा है कि आज के छायावादी काव्य की समस्त विशेषता युगोचित भूमि पर माननीय प्रकृति से ही प्रसूत है। 'दर्शन' और सामान्य अनुभव से यह सिद्ध है कि मनुष्य सुख के लिए ही स्वयं सहस्र बन्धनों में अपने को बाँध लेता है और सुख के लिए ही फिर उससे मुक्त होना चाहता है—उसे तोड़ डालता है। छायावादी काव्य में मानव की यही प्रकृति व्यक्त है। इसीलिए आलोचकों ने इसे एक विद्रोहीवृत्ति के रूप में लक्षित किया है। छाया-वादी युग से पूर्व साहित्य में 'रीति' का बन्धन और 'व्यक्त' का प्रकाशन इतना हो चुका था कि अपनी विद्रोही प्रकृति भड़क उठी और वह अपने को बन्धनों से मुक्त करती हुई भाव-जगत की ओर, 'अव्यक्त' की ओर स्वभावतः मुड़ी। इस प्रकार काव्य में सहज ही भाव-जगत की 'छाया' झलक उठी। आचार्य नन्द-दुलारे वाजपेयी ने इसी अर्थ में 'आध्यात्मिक छाया' की बात कही है। इस प्रकार जो यह सहज और स्वाभाविक ढंग से रहस्यवादिता की वृत्ति छायावादी काव्य में फूट पड़ी है—उसमें दो स्तर की 'रहस्य' सम्बन्धी—'अबुद्धि-बोध्य चिन्मयतत्त्व' सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ मिलती हैं—एक तो जिज्ञासात्मक 'कौन तम के पार रे कह' और दूसरी साम्प्रदायिक 'कुछ शेष चिह्न हैं अब भी मेरे उस महामिलन के'—के रूप में। पहले स्तर का रहस्यवाद तो स्वाभाविक विकास के रूप में लिया जा सकता है—पर दूसरा तो प्रयत्नज और सचमुच बंगाल के माध्यम से आया हुआ योरुपियन अनुकृत प्रवृत्ति के ही रूप में समझा जा सकता है।

इस युग की चतुष्टयी ने 'रहस्यवाद' को क्या समझा है और उसे कैसा चित्रित किया है ? उसे नया अर्थ दिया गया है या जो परम्परा सम्मत अर्थ है—उसी में प्रयुक्त किया है—यह तीसरा प्रश्न है। 'प्रसाद' और महादेवी ने अपनी विवेचनाओं द्वारा इसे स्पष्ट करना चाहा है। 'प्रसाद'जी ने कहा है कि काव्य में आत्मा की संकल्पात्मक मूल अनुभूति की मुख्यधारा रहस्यवाद है। 'संकल्पात्मक मूल अनुभूति' ही कवित्व या काव्य है—इस प्रकार प्रसादजी काव्य को एक आध्यात्मिक वस्तु मान रहे हैं और कवि को एक सच्चा रहस्यद्रष्टा मानते हैं। प्रमाण में आरम्भिक काव्यमय वैदिक ऋचाओं को उद्धृत करते हैं—"जो एक द्रष्टा कवि का सुन्दर दर्शन है। संकल्पात्मक मूल अनुभूति को स्पष्ट करते हुए

कहा है कि वह आत्मा की मनन शक्ति की वह असाधारण अवस्था है जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है। यह असाधारण अवस्था युगों की समष्टि अनुभूतियों में अन्तर्निहित रहती है, क्योंकि सत्य अथवा श्रेय ज्ञान कोई व्यक्तिगत सत्ता नहीं, वह एक शाश्वत चेतनता है या चिन्मयी ज्ञान धारा है, जो व्यक्तिगत स्थानीय केन्द्रों के नष्ट हो जाने पर भी निर्विशेष रूप से विद्यमान रहती है। प्रकाश की किरणों के समान भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के दर्पण में प्रतिफलित होकर वह आलोक को सुन्दर और ऊर्जस्वित बनाती है।" इससे यह स्पष्ट है कि प्रसादजी 'रहस्यवाद' को एक अनुभूति मानते हैं। यह अनुभूति 'आत्मा' की होती है जो अपने स्वरूप में 'संकल्पात्मक' है। यह 'अनुभूति' आत्मा की मनन-शक्ति की वह असाधारण दशा है—जो श्रेय सत्य को उसके मूल चारुत्व में सहसा ग्रहण कर लेती है। श्रेय सत्य को शास्त्र और विज्ञान भी पकड़ना चाहता है--पर वह सहसा नहीं, वरन् विश्लेषण एवं परीक्षण के माध्यम से (क्रमशः) पकड़ता है—इसीलिए उसकी चारुता नष्ट हो जाती है। यह सहसा कौंध जानेवाली अनुभूति जिसे 'रहस्यवाद' कहते हैं—मनन शक्ति का परिणाम है। मनन किसका ? युगों का, सत्य की व्यंजिका अतीत की संस्कृतियों का—क्योंकि 'सत्य' (अबुद्धि-बोध्य चिन्मयी ज्ञानधारा) इसी रूप में अपने को व्यक्त करता है—प्रकाशित करता है। निष्कर्ष यह कि यदि हम इतिहास का अनुशीलन करें—तो उस 'असाधारण दशा' की अपरोक्षानुभूति कर सकते हैं —जिसे 'रहस्यवाद' की संज्ञा दी जा रही है। इतिहास के अनुशीलन से अबुद्धि-बोध्य चिन्मयी ज्ञानधारा अपनी चारुता में गृहीत होती है—अतः वह 'रसात्मक' होती है। इस प्रकार यह असाधारण दशा जो चिन्मयी ज्ञानधारा की अपरोक्षानुभूति से उत्पन्न है—यदि एक ओर 'रहस्यवाद' है तो दूसरी ओर रसात्मक होने से 'काव्यावस्था' भी है—इसीलिए इनका 'रहस्यवाद' और 'काव्यावस्था' पर्याय हो गये हैं।

प्रसादजी के इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'रहस्यवाद' एक अनिर्वचनीय 'असाधारण दशा' है—जो मनन से उत्पन्न होती है। 'मध्यकालीन रहस्यवादी' धारणा से इनका यहाँ स्पष्ट अन्तर है। यद्यपि 'रहस्य' शब्द का सम्बन्ध 'चिन्मय-तत्त्व' से दोनों मानते हैं—पर प्रसादजी जहाँ उसकी अपरोक्षानुभूति (इतिहास के) 'मनन' से ही मानते हैं, वहाँ मध्यकालीन सन्त उसे 'मनन' से आगे बढ़कर 'निदिध्यासन' से स्वीकार करते हैं। प्रसादजी का मनन 'विचार' है और सन्तों का 'निदिध्यासन' विशिष्ट आध्यात्मिक साधना। सन्तों की निदिध्यासन जन्य रहस्यात्मक असाधारण अवस्था का विषय निर्विशेष चिन्मय तत्त्व है, प्रसादजी के मनन का विषय संस्कृतियों में प्रतिफलित 'सत्य' या चिन्मयी ज्ञानधारा है। प्रसादजी की 'मनन' जन्य असाधारण अवस्था का विषय आध्यात्मिक मुकामात, निर्विशेष चिन्मय तत्त्व, नित्य विहार नहीं है—बल्कि कुछ ऐसा है—जो ब्रह्मानन्द सहोदर है—रस है—इसीलिए वे कवि और चिन्तक होने के कारण अपनी

असलियत पर ही रह गए हैं—कवि की भूमिका तक ही रह गए हैं। इस प्रकार प्रसादजी ने 'रहस्यवाद' को 'काव्यावस्था' के अर्थ में प्रयुक्त करके एक नये अर्थ से मण्डित किया है। 'काव्य और कला' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने रहस्यवाद को जो अर्थ दिया है—वह यह हैं।

'रहस्यवाद' शीर्षक दूसरे अध्याय के अन्त में उन्होंने यह कहा है कि वर्तमान हिन्दी में इस अद्वैत रहस्यवाद की सौन्दर्यमयी व्यंजना होने लगी है। वह साहित्य में रहस्यवाद का स्वाभाविक विकास है। इसमें अपरोक्षानुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य के द्वारा 'अहं' का 'इदं' से समन्वय करने का सुन्दर प्रयत्न है। वहाँ जिस रहस्यवाद का इतिहास प्रस्तुत किया गया है—वह साधना-प्रसूत साम्प्रदायिक-रहस्यवाद है।

प्रसादजी के रहस्यवाद सम्बन्धी इन दो वक्तव्यों में से प्रथम वक्तव्य का सम्बन्ध 'रहस्यवाद' सम्बन्धी उनकी अपनी निजी सैद्धान्तिक धारणा से है—जहाँ उन्होंने अनुभवैकसंवेद्य 'असाधारण दशा' (जहाँ चिन्मयी ज्ञानधारा या श्रेय सत्य अपनी चारुता में सहसा कौंध जाता है) को रहस्यवाद की मुख्य धारा कहा है और दूसरे वक्तव्य में भारतीय रहस्यवाद के अपनी दृष्टि से प्रायोगिक रूप का विवेचन है। इस प्रायोगिक रूप के छायावादी युगीन रहस्यवाद को उन्होंने अद्वैती-रहस्यवाद की स्वाभाविक और सुन्दर व्यंजना कहा है। उस युग के सभी कवियों में सामान्य रूप से दिखाई पड़नेवाली रहस्यवादी प्रवृत्तियों को लक्ष्य में रखते हुए प्रसाद तथा महादेवी ने विविध सोपानों का भी उल्लेख किया है। साथ ही इस नूतन रहस्यवादी उद्गारों के मूल में सक्रिय चेतना का मध्यकालीन या पूर्ववर्ती चेतना से मौलिक अन्तर भी स्पष्ट किया है।

इस प्रकार यहाँ दो बातें मुख्यतः विवेच्य हैं—छायावादी काव्य के मूल में सक्रिय व्यापक युग चेतना और उसकी एक तरंग के रूप में उच्छलित होनेवाले रहस्यवादी स्वर के विविध-सोपान।

छायावादी हृदयाकाश के क्षितिज पर जो प्रगति-रोधक रूढ़ियों के मेघखण्डों से मुक्त था, युग चेतना या आधुनिकता का बालारुण अपेक्षाकृत पूर्ववर्ती कवियों से कहीं ज्यादा स्वस्थ भूमिका पर उदित हुआ। इसने वर्तमान की यथार्थताओं, कटुताओं एवं संघर्षों तथा समस्याओं को सार्वभौम पृष्ठभूमि पर अपनी राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक दृष्टि से भी परखा। किन्तु अपनी प्रकृति में रोमेण्टिक होने के कारण—अन्तर्मुखी होने के कारण—उस संघर्ष में यथार्थ की भूमिका पर उतरकर ये लोग भौतिक डग न भर सके—चिन्तना, भावना और कल्पना के लोक में चले गये। आँख खोलने पर बाहर यदि वे किसी के साथ अपनी एकरसता का अनुभव करते थे तो विश्वसुन्दरी प्रकृति से जहाँ का कण-कण उन्हें चेतना-स्पन्दित लग रहा था—जिसकी राग-विरागजनक चेष्टाओं से उनकी भावोद्दीप्ति होती थी। इस स्थिति में उनके सामने यथार्थ की कटुता से हटकर जाने के लिए दो दिशाएँ उन्मुक्त थीं—एक तो अन्तर्मुख होने पर 'चिन्तना' जगत में पहुँचते थे

जहाँ बैठकर वे मनस्तर्पक सुनहले अतीत में इन समस्याओं का समाधान पाने योग्य प्रयास करते थे या भविष्य के प्रासाद को स्वचिन्तित दर्शन द्वारा स्वर्णिम रूप देते थे। दूसरी ओर यदि इनकी आँखें खुली भी रहती थीं —तो भी मानवीय जगत से हटकर विश्वसुन्दरी प्रकृति की ओर लगती थीं—लेकिन वहाँ के व्यापारों में भी दृष्टिगोचर होनेवाले निराशाजनक व्यापारवश जड़ वैज्ञानिक सीमानिर्देशों की प्रतिक्रिया में उसको भी फाड़कर या पारकर तह में छिपी हुई किसी रहस्यमयी शक्ति पर केन्द्रित हो जाती थीं और साधना नहीं, भावना तथा कल्पना के सहारे रागमूलक प्रणय-निवेदन करने लगती थीं। पहली दिशा में फिर भी पुरुषजनोचित प्रयास था—और दूसरी दिशा में स्त्रीजनोचित एवं माधुर्यभावाश्रित आत्मविसर्जन की भावना थी। प्रसाद, पन्त, निराला की दृष्टि उभयमुखी है—पर पहले पक्ष पर ज्यादा और महादेवी की दृष्टि दूसरी दिशा में ही आद्योपांत खुली रही है। इस प्रसंग में दूसरी दिशा ही विवेच्य है। दूसरी दिशा ही 'रहस्यवादी' दिशा है—जिसके विभिन्न सोपानों का भी इन लोगों ने निर्देश किया है। सम्प्रति, इन विभिन्न सोपानों का निरीक्षण और उसके मूल में परिलक्षित मनोवृत्ति की वास्तविकता या कृत्रिमता का परीक्षण प्रसंगोचित प्रतीत होता है।

रहस्यवादी दिशा में उन्मुख होने का प्रथम सोपान छायावादी कवियों में प्रकृति की अपरोक्षानुभूति से रहस्यमयी सत्ता की ओर बढ़ने में दिखायी पड़ता है। प्रसादजी ने भी माना है कि विश्वसुन्दरी प्रकृति में चेतना का आरोप इस दिशा में बढ़ने का प्रथम सोपान है। 'आँसू' में यह सोपान स्पष्ट है। रायकृष्णदास ने 'नीरजा' की भूमिका में लिखा है—"कवि की आत्मा एक वियुक्ता प्रेयसी की भाँति अपने प्रियतम का स्मरण करती है। उनकी दृष्टि से विश्व की सुषमा चिर-सुन्दर की छाया है। इस प्रतिबिम्ब-जगत को देखकर कवि का हृदय उस सलोने बिम्ब के लिए ललक उठा है।" इस तथ्य का पोषण निरालाजी की निम्नलिखित पंक्तियाँ कितने उत्तम ढंग से प्रस्तुत कर रही हैं—

खींचा उसी ने था हृदय यह
जड़ों में चेतन-गति-कर्षण मिलता कहाँ ?

प्रकृति में जो आकर्षण है—वह आपाततः ही प्रकृतिगत जान पड़ता है। क्योंकि प्रकृति तो जड़ है और कर्षण चेतन का व्यापार है। इसलिए जो प्रकृति में आकर्षण दिखायी पड़ता है—वह उसमें अपने सौन्दर्य को प्रतिबिम्बित करनेवाले तथा प्रकृति की तह में निहित रहनेवाले चेतन तत्त्व का ही है।

प्रकृति की इस अपरोक्षानुभूति के सन्दर्भ में बहुरंगी रहस्यवादी उद्गार स्वाभाविक भूमिका पर मिलते हैं—जिसके प्रचुर उदाहरण हमें 'पंत'जी में उपलब्ध होते हैं। पंतजी को प्रकृति की अपरोक्षानुभूति से ही झलकनेवाली रहस्यमयता इतनी मधुर लगती है कि वे उसी में मुक्ति का अनुभव करते हैं और इसी प्रकार की साधना को सरल और सहज मानकर स्वीकार करना चाहते हैं, मुक्ति के लिए साम्प्रदायिक रहस्यवादियों की घट-साधना को तो बन्धन समझते हैं।

वे कहते हैं—

है सहज मुक्ति का मधुक्षण, पर कठिन मुक्ति का बन्धन।

इस भाव की अभिव्यक्ति करते हुए कवि ने अन्यत्र भी कहा है कि प्रकृति का व्यक्त सौन्दर्य ही आकर्षक जान पड़ता है। सुना जाता है कि इसकी तह में कोई 'रहस्यमय' तत्त्व है, पर तदर्थ चक्करदार प्रयासों की साधना से उन्हें भय है कि कहीं वे अपनी पृथक् सत्ता न खो दें।

सुनता हूँ इस निस्तल जल में रहती मछला मोती वाली।
पर मुझे डूबने का भय है, भाती तट की चल जल-माली।
आएगी मेरे पुलिनों पर वह मोती की मछली सुन्दर।
मैं लहरों के तट पर बैठा देखूँगा उसकी छवि जी भर।।

महादेवीजी ने यद्यपि अपने आध्यात्मिक विकास के सिलसिले में यह कहा है—"पहले बाहर खिलनेवाले फूल को देखकर मेरे रोम-रोम में ऐसा पुलक दौड़ जाता था, मानो वह मेरे हृदय में ही खिला हो, परन्तु उसके अपने से भिन्न में प्रत्यक्ष अनुभव एक अव्यक्त वेदना भी थी, फिर यह दु:ख-सुख मिश्रित अनुभूति ही चिन्तन का विषय बनने लगी है और अन्त में अब मेरे मन ने न जाने कैसे उस भीतर-बाहर में एक सामञ्जस्य ढूँढ़ लिया है—जिसने सुख-दु:ख को इस प्रकार बुन दिया कि एक के प्रत्यक्ष अनुभव के साथ दूसरे का प्रत्यक्ष आभास मिलता रहता है।" इसी के साथ महादेवी का यह वक्तव्य भी द्रष्टव्य है—"छायावाद की प्रकृति घट, कूप आदि में भरे जल की एकरूपता के समान अनेक रूपों में प्रकट एक महाप्राण बन गयी, अत: अब मनुष्य के अश्रु, मेघ के जलकण और पृथिवी के ओस बिन्दुओं का एक ही मूल्य है।" वास्तव में प्रसाद की अपरोक्षानुभूति और समरसता वाला ही यह विवेचन है—जहाँ से रहस्यवाद का पहला और व्यापक उपक्रम होता है। यहाँ भावना के बल से बहुत्व की एकोन्मुखी अभिव्यक्ति की जाती है। पर प्रायोगिक रूप में महादेवीजी की रचनागत इस सोपान की झलक नहीं मिलती। प्रकृति के किसी भी दृश्य का या मानव मनोभाव का वहाँ उल्लेख नहीं मिलता। देवीजी के काव्य में प्राकृतिक सुख-दु:ख अथवा उसके सामञ्जस्य का कोई उल्लेख नहीं मिलता। निष्कर्ष यह कि स्वाभाविक-रहस्यवाद का प्रथम सोपान यहाँ नहीं के बराबर है।

प्रसादजी ने प्रकृति के व्यापारों में खूब मधुचर्या देखी है, उसमें सर्वत्र प्रिय एवं प्रियतमा के बीच की श्रृंगारिक लीलाओं का ही आभास है—पंत-जैसा स्वाभाविक (Natural) रहस्यवाद का नहीं। प्रसादजी विश्वसुन्दरी प्रकृति पर चेतना का आरोप करते हुए, सुख-दु:ख को एक ही चेतना के दो किनारों के रूप में देखकर वेदना और तज्जन्य सहानुभूति या प्रेम द्वारा, शैवागमनिर्दिष्ट साधन प्रक्रिया द्वारा कामायनी तक 'अहं' से 'इदं' के सामरस्य की ओर बढ़ते गये हैं। प्रसादजी के रहस्यवाद के सम्बन्ध में शुक्लजी का मत ही हमें परिनिष्ठित लगता है। उन्होंने कहा—"इनकी मधुचर्या के मानस-प्रसार के लिए रहस्यवाद का

परदा मिल गया अथवा यों कहें कि इनकी सारी प्रणयानुभूति ससीम पर से कूद-वर असीम पर जा रही है ।" पर तत्त्व-सम्बन्धी रचनाएँ भी इन लोगों में दो प्रकार की हैं—एक तो ऐसी जिसे शुद्ध दार्शनिक कहना ही संगत है । 'इड़ा' सर्ग की तमाम रचनाएँ इसके उदाहरण रूप में प्रस्तुत की जा सकती हैं । 'निराला' तथा 'पंत' में भी दार्शनिक रचनाओं का प्राचुर्य है । 'रहस्यवादिता' अनुभूतिमूलक प्रवृत्ति है । अतः रहस्यवादी रचनाओं के अन्तर्गत केवल उन्हीं को लिया जा रहा है—जिसमें भावना परिचालक हो, अनुभूति परिचालक हो । जिज्ञासात्मक रहस्यवाद की रचनाएँ स्वाभाविक अनुभूतिजन्य हैं—ऐसी अनुभूति जैसी प्रायः मन में उठा करती है । प्रकृति की अपरोक्षानुभूति से प्रथम स्तर पर ऐसी ही स्वाभाविक रहस्यवादिता गर्भित रचनाएँ उपलब्ध होती हैं । पंतजी की रचनाओं से ऐसे उदाहरण ऊपर प्रस्तुत ही किए जा चुके हैं । प्रसादजी का हृदय संयोग-वियोग की भावनाओं और मुद्राओं से इस प्रकार विद्ध है—कि प्रकृति के व्यापारों में भी उन्हें वही दिखाई पड़ता है—इस प्रकार वैयक्तिक प्रणयोद्‌गार को वे रहस्यवादी आवरण प्रदान कर देते हैं—"मादकता से तुम आए, संज्ञा से चले गए थे"—यह क्या है—बेहोशी में उसकी झलक मिलनी और चले जाने पर होश आ जाना – एक साम्प्रदायिक उद्‌गार ही है ।

महादेवीजी अपरोक्षानुभूति से 'परोक्ष' की ओर बढ़ने के बाद यह मानती हैं कि प्रकृति में गोचर होनेवाली अनेकरूपता पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोप और फिर उसके प्रति प्रणय निवेदन ही रहस्यवाद का दूसरा सोपान है । महादेवीजी इसी सोपान पर आदि से अन्त तक रही हैं । एतदर्थ उन्होंने परा-विद्या की अपार्थिवता तथा वेदान्त के अद्वैत की छायामात्र ग्रहण की, लौकिक प्रेम से तीव्रता उधार ली और इन सबको कबीर के सांकेतिक भावसूत्र में बाँधकर निराले स्नेह-सम्बन्ध की सृष्टि कर डाली ।

जिस प्रकार प्रसादजी ने 'अहं' (आत्मा) से 'इदं' (जीवन और जगत) के सामरस्य के लिए यह आवश्यक माना कि व्यष्टि-वेदना से मिली सहानुभूति की आँखें जगत की करुणा का—परकीय वेदना, समष्टि वेदना का भी अनुभव कर लेती हैं—और फिर ऐसी आँखों का व्यक्ति प्रेम, त्याग, करुणा की सात्त्विक वृत्तियाँ तथा आगमोक्त निर्देशों के सहारे 'सामरस्य' की दिशा की ओर उन्मुख हो सकता है—वैसे ही महादेवीजी भी मानती हैं कि—"उसके अन्तर्जगत का विकास ऐसा होना चाहिए जो उसके व्यक्तिगत जीवन का विकास और परिष्कार करता हुआ समष्टिगत जीवन के साथ उसका सामञ्जस्य स्थापित कर दे । मनुष्य के पास केवल इसके लिए दो उपाय हैं—बुद्धि का विकास और भावना का परिष्कार ।" वे मानती हैं कि भावातिरेक प्रवेगमय पर दिशाहीन होता है और विवेक दिशाज्ञानी पर गतिहीन होता है—अतः दोनों के समुचित सामरस्य से ही व्यष्टि और समष्टि के सामरस्य की ओर गतिशील हुआ जा सकता है । 'पंत'जी का चिन्तन भी जड़ एवं चेतन के कगारों के बीच प्रवाहित होती हुई जीवनधारा

की चरम भूमिका की ओर गतिशील कराने के लिए व्यग्र है—और विविध दार्शनिक भूमिकाओं से टकराता—अनुरूप सामग्री लेता हुआ चल रहा है। निरालाजी भी 'समाज' किस प्रकार सम्यक्-अजन-गमनशील होकर चरम दिशा की ओर गतिशील हो—एतदर्थ सचेष्ट हैं। निष्कर्ष यह कि ये सभी रहस्यवादी एक तरफ चिन्तन की दिशा में अग्रसर हैं—दूसरी ओर भावना को निखार देनेवाली प्रेम, करुणा, त्याग आदि मानवीय सात्त्विक वृत्तियों को सक्रिय रखना चाहते हैं। जिस प्रकार यूरोप के रोमेण्टिसिज़्म का द्वितीय उत्थान मानवतावादी भूमिका पर आरूढ़ है—कुछ वही प्रवृत्ति यहाँ भी सक्रिय है। इस प्रकार जहाँ तक वेदना या जलने की प्रवृत्ति तथा विश्व पर करुणा बरसाने की बात है—वह तो विशुद्ध भावप्रेरित साधना हो भी सकती है। मध्यकालीन सन्तों ने अपनी अभुक्त वासना को एक तरफ भगवान के चरणों पर उड़ेला और दूसरी ओर समस्त चराचर पर निर्मुक्तभाव से वितरित किया—और इस प्रकार उसे संस्कृत किया—इन छायावादी कवियों में दूसरा पक्ष तो सम्भव है—पर पहला पक्ष पूर्णतः संदिग्ध है। स्वयं ये छायावादी कवि भी इस बात से सहमत हैं। महादेवी का ही कहना है "आत्मानुभूतज्ञान आत्मा के संस्कार और व्यक्तिगत साधना पर इतना निर्भर है कि इसकी पूर्ण प्राप्ति और सफल अभिव्यक्ति सबके लिए सहल नहीं।" पंतजी ने 'छायावाद : पुनर्मूल्यांकन' में कहा है—"छायावाद को और विशेषतः महादेवी की रहस्यमयी अभिव्यक्ति को मध्ययुगीन निवृत्तिमुखी, वैयक्तिकसाधना की रहस्यवादी भूमि पर रखकर देखना समीक्षकों की अपने युग के प्रति अप्रबुद्धता तथा मध्ययुगीन मान्यताओं से आच्छादित मस्तिष्क एवं बुद्धि का ही द्योतक है।" (पृ. 94)। आलोचकों में शुक्लजी ने भी कहा ही है—"वेदना की जो अनुभूतियाँ उन्होंने रखी हैं—वे कहाँ तक वास्तविक अनुभूतियाँ हैं···नहीं कहा जा सकता।" डॉ. नगेन्द्र, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, श्री विनयमोहन शर्मा आदि सभी एक मत हैं कि 'उस प्रियतम' के संयोग-वियोगवाली रहस्य भावना साम्प्रदायिक रहस्य भावना का अनुकृत रूप है। इसके मूल में अनुभूति की सचाई नहीं है। इसीलिए उत्तरोत्तर छायावादी कवियों में महादेवी को छोड़कर शेष ने इस संकीर्ण दायरे से अपने को उन्मुक्त कर लिया और जीवन तथा जगत की समस्याओं को मानवतावादी भूमिका पर सोचने-विचारने में अपने को लीन कर लिया।

इस प्रकार इस विवेचन से पूर्वोत्थापित जिज्ञासाओं में तीसरी जिज्ञासा—कि यहाँ का 'रहस्यवाद' अर्थतः वही परम्परा स्वीकृत रहस्यवाद है या उसे नया अर्थ दिया गया है—का उत्तर यह हुआ कि जहाँ औपनिषद या मध्यकालीन रहस्यवाद श्रद्धा और विश्वास के युग का साधनाश्रित वस्तु है—वहाँ छायावादी युग का रहस्यवाद चिन्तन, साधना-निरपेक्ष भावना और कल्पना पर आश्रित एक काव्यगत प्रवृत्ति है। यहाँ प्रसादजी ने 'काव्यावस्था' के पर्याय रूप में 'असाधारणदर्शन' को रहस्यवाद कहा और महादेवी ने अनुभूति-निरपेक्ष "प्रकृति की अनेकरूपता पर आरो-

पित मधुरतम व्यक्तित्व के प्रति आत्मनिवेदन" को रहस्यवाद कहा—दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त रहस्यवाद पूर्व स्वीकृत 'रहस्यवाद' से भिन्न भूमिका पर स्थिर हैं। जिज्ञासात्मक स्तर की रहस्यवादी उक्तियों में भावना की सचाई होने के कारण उसे कथमपि श्रद्धेय माना भी जा सकता है—पर अनुभूतिशून्य संयोग-वियोग का राग रहस्यवाद की ग्राह्य परिधि से बहिर्भूत वस्तु है। साधना के क्षेत्र में इसका कोई मूल्य नहीं, काव्य के क्षेत्र में भी इसका भावना पक्ष से कोई मूल्य नहीं—क्योंकि वहाँ अनुभूति की सचाई नहीं है। कला-पक्ष से ही ऐसी रचनाओं का कुछ मूल्य काव्य की सीमा में यदि हो सकता है—तो हो सकता है। इसलिए संयोग-वियोगवाला छायावादगत रहस्यवादी पक्ष 'मुखौटा' ही है—सच्चा रहस्यवाद नहीं। काव्य में वस्तु लोकोत्तर या रहस्यमय आ सकती है—पर भावना को गढ़ा हुआ और कल्पित नहीं होना चाहिए। इसलिए यह अनुकृत और साम्प्रदायिक रहस्यवाद केवल इस अर्थ में रहस्यवाद हो सकता है कि वह 'अस्पष्ट' है और अस्पष्टता का कारण अनुभूतियों का सर्वजन सामान्य न होना तथा शैली का दुरूह होना है।

साधनात्मक-रहस्यवाद

"जोग जुगति जप मंत्र प्रभाऊ।
फलै तबहिं जब करिय दुराऊ।" —तुलसीदास

रहस्यमयी अनुभूतियों की यथासम्भव चर्चा कर लेने के अनन्तर उन साधनाओं पर ध्यान जाना सहज और स्वाभाविक है—जिनकी वे साक्षात् या पारस्परिक परिणति हैं। पारस्परिक परिणति का अभिप्राय यह है कि मूलतत्त्व को साधकों ने स्वतः प्रकाश माना है, अतः मूलतत्त्व सम्बन्धी अनुभूति में साधना का पारस्परिक उपयोग ही संभव है—अर्थात् साधनों का इस चरम अनुभूति में सीधा योग न होकर विरोधी-आवरण की निवृत्ति द्वारा ही सम्भव है। अस्तु 'श्रेय' की ओर ले जानेवाली उन साधनाओं में बहुत-सी ऐसी क्रियाएँ भी हैं—जिनकी गोपनीयता या अगोपनीयता का कोई प्रश्न नहीं है। उदाहरण के लिए 'श्रेय' मार्ग की ओर जानेवाला व्यक्ति अपने जीवन को सरल बना लेता है—पर यहाँ यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने हर व्यापार और चेष्टा को 'गुह्य' बना ले। इसलिए उसकी 'श्रेय' की ओर ले जानेवाली प्रत्येक चेष्टा 'रहस्यात्मक' नहीं है—फलतः उसकी गणना 'रहस्यात्मक साधना' के अन्तर्गत सम्भव नहीं है। इस प्रकार मेरे द्वारा स्वीकृत 'साधनात्मक रहस्यवाद' के अन्तर्गत जहाँ एक ओर 'श्रेय मार्ग' की हर चेष्टा का समावेश नहीं है—वहाँ दूसरी ओर घर के भीतर संपादित किए जाने-वाले केवल मन के अप्राकृत और जटिल व्यापारों का ही समावेश हो—यह भी नहीं है। मैं तो ऐसी मानसिक जटिल प्रक्रियाओं के अतिरिक्त उन प्रक्रियाओं को भी रहस्यात्मक साधना के अन्तर्गत स्वीकार करता हूँ, जो षट् चक्रवेध और कुण्डलिनी उत्थापन की भाँति स्वरूपतः रहस्यात्मक नहीं हैं, फिर भी गोपनीय रखी जाती हैं। श्रेय मार्ग का निर्देशक गुरु साधक के संस्कार के अनुरूप जो भी 'मार्ग' निर्दिष्ट करे—वह सब 'रहस्य' रखा जाता है—यद्यपि उनमें से ऐसी कई बातें हैं जो बताने पर बड़ी ही सरल और सुबोध जान पड़ेंगी। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा है—

जोग जुगति जप मंत्र प्रभाऊ।
फलै तबहिं जब करिय दुराऊ।

जिस प्रकार अनावृत बीज अंकुरित नहीं होता, उसी प्रकार अनावृत साधना भी

वंध्या हो जाती है—अतः साधकों की धारणा है कि गुरु निर्दिष्ट साधना मात्र रहस्य है—चाहे वह घट के अन्दर सम्पाद्य हो या बाहर।

भारतीय-साधना की असाधारण विशेषता है—अधिकार-भेद। यहाँ अधिकारी भेद से साधन-भेद का निर्देश सुदूर दीर्घकाल से चला आ रहा है। यही कारण है कि वैदिक वाङ्मय में भी अनेक प्रकार के मार्गों का निर्देश मिलता है—उनके भी न जाने कितने अवान्तर रूप हैं। उपनिषद् के ऋषियों ने 'प्रेय' मार्ग की अपेक्षा 'श्रेय मार्ग' को ही ग्राह्य माना है और तदर्थ अनेक प्रकार की सगुण विद्याओं और निर्गुण विद्या का उल्लेख किया है।

संहिताओं, ब्राह्मणों तथा आरण्यकों में अद्वयात्मक परतत्त्व तथा उसकी प्राप्ति के जिन प्रकारों और उपकरणों का संकेत मिलता है—उसका विशदीकरण उपनिषदों में हुआ है। उपनिषदों में 'गुह्य' तत्त्व के साथ गोपनीय विद्याओं की भी चर्चा हुई है। कदाचित् इन्हीं गुह्य तत्त्व एवं साधकों का निरूपक होने के कारण ही उन्हें 'उपनिषद्' शब्द से पुकारा गया—जो परवर्ती काल में 'रहस्य' के पर्याय रूप में ही प्रयुक्त हुआ। आनन्दवर्द्धन जब कहते हैं—"औचित्योपनिबंधस्तु रसस्योपनिषत् परा"—तब वे 'उपनिषत्' शब्द का प्रयोग 'रहस्य' के ही अर्थ मे करते हैं। व्यास ने अपने 'ब्रह्मसूत्र' में इन्हीं उपनिषदों की पर्यालोचना की है और परवर्ती वेदांतियों ने उसे अपना उपजीव्य बनाया है। इन वेदान्तियों में अद्वैती और द्वैती दोनों ही परिगणित होते हैं। यद्यपि द्वैतवादी वैष्णव वेदान्तियों ने अपना उपजीव्य पाञ्चरात्र-आगम को मुख्यतः माना है, तथापि उसका सम्बन्ध वेदों से भी जोड़ने का पूर्ण प्रयास किया। यह बात दूसरी है कि सभी वैदिक वैष्णव-सिद्धान्तों को पूर्णतः वैदिक नहीं मानते।

इस प्रकार निर्विवाद रूप से उपनिषदों के अद्वैती व्याख्याकारों ने औपनिषद-साधना का स्वरूप-निर्देश करते हुए बताया है कि हर व्यक्ति सुख चाहता है—पर वह सुख दो प्रकार का है—सातिशय एवं निरतिशय। प्रेय मार्गी 'कर्मजित् लोक' एवं 'पुण्यजित् लोक' में सातिशय सुख की ही प्राप्ति करता है—पर औपनिषद साधक इस सुख को क्षर सुख समझते हैं और 'निरतिशय सुख' की उपलब्धि के लिए 'श्रेय मार्ग' का ग्रहण करते हैं। कठोपनिषद् का नचिकेता यमराज से बात करता हुआ इसी दिशा का संकेत देता है। इसी द्विविध-सुख में से 'निरतिशय सुख' की महत्ता का नितान्त मनोरम निरूपण वृहदारण्यक उपनिषद् में सनत्कुमार तथा नारद के पारस्परिक संवाद के अंतर्गत हुआ है। सनत्कुमार ने नारद से कहा कि वे सबकुछ पढ़कर 'मन्त्रविद्' तो हुए, पर 'आत्मविद्' न हो सके—फलतः शोकमग्न हो रहे हैं। उन्होंने कहा कि 'तरति शोकमात्मविद्' के अनुसार वही शोक-सागर का संतरण कर सकता है—जो 'आत्मविद्' हो। इसे सुनकर नारद ने कहा है जो कुछ भी सनत्कुमार ने तब तक किया था—वह 'आत्मविद्' बनने की पहली सीढ़ी थी—और वह था 'नाम ज्ञान' मात्र। उन्होंने निरूपण क्रम में उत्तरोत्तर सोपानों का निर्देश करते

हुए बताया कि नाम→वाणी→मन→संकल्प→चित्त→ध्यान→विज्ञान→बल→अन्न→जल→तेज→आकाश→स्मृति→आशा→प्राण→सत्य-क्रमशः उत्तरोत्तर ज्ञेय हैं। आगे यह भी कहा कि सत्य वही बोलता है जिसे ज्ञान, विज्ञान हो। विज्ञान को मनन की, मनन को श्रद्धा की, श्रद्धा को निष्ठा की और निष्ठा को कर्मण्यता की अपेक्षा है। कर्मण्यता या कृति में प्रेरणा देनेवाली वस्तु है—सुख। इसलिए 'सुख' ही ज्ञेय है। फलतः 'सुख' का निरूपण करते हुए नारद ने कहा कि—"यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति"—सुख वह है जो असीम है, ससीम में सुख नहीं है। सुख वह है जो निरतिशय और महान् है, वह नहीं जो सातिशय, परिमित और क्षुद्र है—अतः 'भूमा' ही विजिज्ञास्य है—इसका साक्षात्कार होने पर साधक स्वयं को भूमा-रूप में देखने लगता है—अर्थात् अपने को स्वल्प और परिमित नहीं, प्रत्युत अनल्प और अपरिमित समझने लगता है वहाँ कोई सीमा नहीं, कोई खण्ड और भेद नहीं है। समस्त भेदों से पार होकर 'भूमा' तक आने में 'आहार शुद्धि' द्वारा 'सत्त्व शुद्धि' या 'मनोनैर्मल्य' होता है—फलतः 'ध्रुवा स्मृति' का उदय होता है—जिसके कारण अपने ध्रुव-भूमा-रूप का स्मरण हो आता है, ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं।

प्रश्न यहाँ यह खड़ा होता है कि उस 'भूमा' को ढूँढ़ा कहाँ जाए? औपनिषद ऋषियों ने इसका उत्तर देते हुए बताया है कि यह भूमा प्रवचन, मेधा और बहु श्रवण से नहीं, बल्कि वह स्वयं जिसका वरण कर ले, उसी को प्राप्त होता है। फिर भी यदि उसे पाना है तो उसे इसी शरीर रूपी ब्रह्मपुर में खोजना होगा। इस ब्रह्मपुर में एक 'दहर' अर्थात् छोटा-सा कमल की तरह हृदयरूपी मन्दिर है—जिसमें एक छोटा-सा आकाश है—वहीं यह छिपा है—वहीं इसे पाया जा सकता है। यह नहीं समझना चाहिए कि यह नन्हीं-सी जगह है—वस्तुतः इसमें वे समस्त पदार्थ समाहित हैं—जो ब्रह्माण्ड में हैं। (रहस्यवादियों का 'पिण्ड ब्रह्माण्ड'-वाद यहाँ कितना स्पष्ट है?) इस शरीर के जरा-जीर्ण होने पर भी उसमें स्थित रहनेवाले तत्त्व का नाश नहीं होता -- उसकी प्राप्ति के बिना सब प्राप्ति क्षर हैं और उसके प्राप्त हो जाने पर सब उसी ब्रह्मपुर में मिल जाएँगे—उसे कहीं जाने की आवश्यकता नहीं। ऐसा व्यक्ति संकल्पमात्र से बिना कहीं आए गए सबकुछ पा लेता है। उस समय तृष्णाओं का अनृत-आवरण हट जाता है और सत् स्वरूप की उपलब्धि हो जाती है। स्वल्प सुख की एषणाएँ 'भूमा' का आवरण हैं—हृदय की इन तुच्छ एषणाओं का आवरण जब हट जाता है तो वह 'भूमा' इसी हृदय में प्रकट हो जाता है—'हृदयम्' का अर्थ ही है—'हृदि+अयम्'—हृदय में ही यह। तदर्थ बाहर ढूँढ़ना निरर्थक है। वृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य ने भी जनक को यही उपदेश दिया है कि 'हृदयं वै सम्राट्! परं ब्रह्म'—हे सम्राट्! हृदय ही परब्रह्म है—हृदय-देश में ही उसकी उपासना आरम्भ की जानी चाहिए। म. म. गोपीनाथ कविराज ने भी माना है कि वैदिक ऋषियों की साधना का आरंभ हृदय-देश ही था।

इस हृदयाकाश में व्याप्त निर्गुण ब्रह्मतत्त्व की प्राप्ति के साधनों का भी अधिकार भेद से उपनिषदों में उल्लेख मिलता है। उत्तम अधिकारी सीधे उस रहस्यमय तत्त्व को प्राप्त कर सद्यःमुक्त हो सकता है। जो उत्तम अधिकारी नहीं हैं—उन्हें क्रम-मुक्ति के मार्ग बताए गए हैं—उन्हीं के लिए अर्चिरादि मार्ग और धूम मार्ग का निर्देश उपनिषदों में मिलता है। कुछ ऐसे प्राणी भी हैं—जिनको उक्त गतियों में से किसी भी प्रकार की गति प्राप्त करने का अधिकार नहीं है—वे जन्म-मरण के चक्र में ही निरन्तर पड़े रहते हैं।

उपनिषदों में निर्दिष्ट इन विविध गतियों के सन्दर्भ में सर्वप्रथम उत्तम अधिकारियों की निर्गुणोपासना विवेच्य है—उस परा विद्या का स्वरूपनिर्देश प्रसक्त है—''यया तदक्षरमधिगम्यते'—जिससे उस 'अक्षर' की उपलब्धि होती है। निर्गुण विद्या में सच्चे मुमुक्षु को ही अधिकार प्राप्त है। मुमुक्षु वह कहा जाता है—जिसमें नित्य और अनित्य का विवेक हो, ऐहिक और आमुष्मिक फल के भोग में वैराग्य हो, साथ ही जिसमें शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान एवं श्रद्धा का अस्तित्व हो। उपनिषदों में ऐसे तमाम वाक्य बिखरे पड़े हैं जिनमें इन सात्त्विक वृत्तियों का निर्देश मिलता है। इन विशेषताओं से युक्त मुमुक्षु नितान्त व्यग्रतापूर्वक सच्चे गुरु की शरण जाने पर उनसे महावाक्यों का श्रवण करता है और निर्दिष्ट प्रक्रिया से 'मनन' तथा 'निदिध्यासन' का पथ ग्रहण करता है। इस प्रक्रिया से उसे आत्मसाक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है। निदिध्यासन से उत्पन्न होनेवाली 'सोऽहमस्मि' इत्याकारक जो अखण्ड चित्तवृत्ति उदित होती है—उस ज्ञानात्मिका वृत्ति से आत्मावरणात्मक अज्ञान की निवृत्ति तो होती ही है स्वयं की भी निवृत्ति (कतक रजो न्याय से) हो जाती है। किसी भी वस्तु के स्वरूप के विषय में छाया रहनेवाला अज्ञान एकमात्र अपरोक्षात्मक ज्ञान से ही निवृत्त होता है। ठीक उसी प्रकार की स्थिति यहाँ भी सम्भव है—यहाँ भी 'निदिध्यासन' द्वारा आत्मस्वरूप पर पड़े हुए आवरण की निवृत्ति आत्मसाक्षात्कार से ही संभव होती है।

उपनिषदों की सगुण विद्या भी चित्तगत एकाग्रता का साधन बनकर अंततः निर्विशेष ब्रह्म के ही साक्षात्कार में उपयोगी होती है। लेकिन यह रास्ता उन मन्द अधिकारियों के लिए है—जो निर्विशेष ब्रह्म का साक्षात्कार करने में अक्षम हैं। सगुणोपासक या ज्ञानपूर्वक कर्म के अनुष्ठाताओं को अर्चिरादि मार्ग से ब्रह्म-लोक जाना पड़ता है और वहीं 'श्रवण' वश तत्त्वसाक्षात्कार होता है—फिर चरम दशा उपलब्ध हो जाती है। विशुद्ध कर्ममार्गी धूम मार्ग से पितृलोक जाते हैं और पुण्य क्षय के अनन्तर अपने सुकृत एवं दुष्कृत के अनुसार उनकी पुनः उत्पत्ति होती है।

कुछ अन्य विद्वानों की यह भी धारणा है कि ''वैदिक काल में भी वैदिक पद्धति के साथ-साथ तांत्रिक पद्धति का प्रचार कम नहीं था। उपनिषदों में वर्णित विभिन्न विद्याओं की आधारभित्ति तांत्रिक प्रतीत होती है। वृहदारण्यक (6|2)

तथा छांदोग्य (5।8) में वर्णित पंचाग्नि विद्या के प्रसंग में 'योषावाव गौतमाग्निः' आदि रूपक का क्या स्वारस्य है ? छांदोग्य में उल्लिखित मधुविद्या का रहस्य क्या है ? सूर्य की ऊर्ध्वमुख रश्मियाँ मधुनाड़ियाँ हैं, गुह्य आदेश मधुकर हैं, ब्रह्म ही पुण्य है, उससे निकलनेवाले अमृत को 'साध्य' नामक देवता उपभोग करते हैं—इस पंचम अमृत के वर्णन में जिन गुप्त आदेशों को मधुकर बतलाया गया है वे गोपनीय तांत्रिक आदेशों के अतिरिक्त और क्या हो सकते हैं ? अतः वैदिकी पूजा के संग में गुह्य तांत्रिक पद्धति की कल्पना करना निराधार नहीं है।" म. म. गोपीनाथ कविराज ने भी 'सस्त्रीको धर्ममाचरेत्' से किसी ऐसी वैदिक साधना की ओर इंगित करना चाहा—जो गुह्य-उपासना थी। इनके अतिरिक्त 'वाग्योग' आदि और न जाने कितनी साधनाएँ थीं। श्वेताश्वतर के छठे अध्याय के चौथे ब्राह्मण की 10वीं श्लोक पंक्तियों में कहा गया है यदि पति चाहे कि उसकी पत्नी सन्तानोत्पत्ति न करे—बल्कि ब्रह्मचर्य जीवन व्यतीत करे—तो पति पत्नी को अनुकूल बना ले और दोनों प्राणापान की गति साधें और दोनों एक-दूसरे के प्रति इस भावना को जन्म दें कि अपनी शक्ति को एक-दूसरे की इन्द्रियों की शक्ति में सम्मिलित करते हैं। इस प्रकार वे दोनों अरेता हो जाते हैं; प्रजनन नहीं करते। इस प्रक्रिया को गुह्य साधना ही तो कहेंगे।

भारतीय साधन-धारा का दूसरा रूप है—तांत्रिक या आगमिक। तांत्रिक साधना शक्ति की साधना है। उपनिषदें भी कहती हैं—"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः"—शक्तिविरहित साधक उस आत्मा का लाभ नहीं कर सकता। आगमिक मार्ग नितान्त गुह्यमार्ग है—रहस्यसम्प्रदाय है। यह इसकी रहस्यमयता ही है—जो कभी-कभी यह धारा तिरोहित हो जाती है और तब तिरोहित हुई या तिरोहित होती हुई इस धारा का उद्धार किसी समर्थ हाथों होता है। इस धारा की रहस्यमयता के ही कारण इसका ऐतिहासिक क्रमउद्भव और विकास निर्धारित कर पाना सर्वथा दुष्कर कार्य है। इस दिशा में किए गए सभी प्रयास अधूरे हैं।

तांत्रिक साधना के संदर्भ में मूलतः तीन तत्त्व विचारणीय हैं—(1) पारमेश्वर 'शक्तिपात' (2) 'गुरु दीक्षा' तथा (3) साधक द्वारा सम्पाद्य 'उपाय'।

ऊपर कहा जा चुका है कि तांत्रिक साधना शक्ति-साधना ही है। अथवा कहा तो यह भी गया है कि साधनामात्र शक्ति-साधना है। षड् दर्शनों में तार्किक (न्याय-वैशेषिक) लोग तो 'शक्ति' ही नहीं मानते। सांख्य और योग में जिस चितिशक्ति का उल्लेख मिलता है—वह पुरुष अथवा परब्रह्म का ही पर्याय है—तदाश्रित अन्य तत्त्व नहीं। मीमांसक और अद्वैतवेदांती शक्ति मानते हैं—परन्तु वह चिन्मयी नहीं है प्रत्युत अनिर्वचनीय है। पाञ्चरात्र-आगम से प्रभावित वैष्णववेदांती अवश्य महालक्ष्मी को विष्णु की समवायिनी या अविनाभूत शक्ति स्वीकार करते हैं। तांत्रिक धारा को अपनाकर चलनेवाली समस्त साधनाएँ—चाहे वे बौद्ध हों, वैष्णव हों, शाक्त हों या शैव या कोई भी—शक्ति की

साधना हैं।

तंत्रालोककार का विचार है कि सांख्य, वेदांत आदि समस्त अन्य-दर्शन सम्मत मुक्ति सम्यक् मुक्ति नहीं है और उसका कारण यह है कि उन लोगों के यहाँ समस्त बन्धों का निःशेष क्षय नहीं होता। इसलिए श्री कण्ठ इन सबका अहर्मुख में पुनः सर्जन करता है। 'अध्वा बंधस्यकारणम्'—अध्वा (शुद्ध एवं अशुद्ध) ही बंध का कारण है। मुक्त वही है—जिसके सारे अध्वबंध पूर्णतः क्षीण हो चुके हों। आगमिकों का परमपद सर्वाध्वविनिष्क्रान्त है। वह सब प्रकार के अवच्छेदों से रहित होता है। वहाँ साधक अहंपरामर्शसारप्रमाता से ऐकात्म्यापन्न होकर स्फुरित होता रहता है। वहाँ चिर प्रसुप्त चिच्छक्ति का पूर्णतः जागरण रहता है और वह शक्तिमान से समरस हो जाती है।

बंध का मूल अध्वा और अध्वा का मूल अज्ञान है। यह अज्ञान पौरुष एवं बौद्ध—दो प्रकार का है। पहले पौरुष अज्ञान का स्थान है—तदनन्तर बौद्ध अज्ञान का। वस्तुतः इनकी आदिता और अनादिता का विचार बड़ा ही कठिन है—पर समझने-समझाने के लिए कुछ मानकर ही चला जा सकता है। अतः यह माना जाता है कि परप्रमाता शिव ही अपने स्वातन्त्र्यवश आणवमल (पूर्णता का तिरोधायक) का—मूल अज्ञान का—उत्क्षेप करता है—फलतः क्रमशः बौद्ध अज्ञान का उदय होता है। इस प्रकार पौरुष अज्ञान एवं बौद्ध अज्ञान (स्वरूपाख्याति, बोध और स्वातन्त्र्य का पार्थक्य, स्वरूप संकोच) दोनों ही 'बंध' के रूप में स्वरूप संकोच के निमित्त लीलावश उदित होते हैं।

इस अज्ञानात्मक बंध या अपूर्णता से विनिर्मुक्त होने के लिए ज्ञान (अज्ञान-विरोधी) की आवश्यकता है। ऊपर औपनिषद धारा के व्याख्याताओं ने भी अज्ञान को बंध कहा था—जो स्वरूपाख्याति ही है—और उसकी निवृत्ति के लिए अपरोक्षात्मक ज्ञान को ही अपेक्षित कहा गया था—उसी प्रकार यहाँ भी ज्ञान को अज्ञान का निवर्त्तक कहा गया है—पर वहाँ का ज्ञान 'जीवात्मापरमात्मा का तादात्म्य' था, यहाँ का ज्ञान शक्ति और शक्तिमान्—बोध और स्वातन्त्र्य—का सामरस्य है, 'विमर्श' और 'प्रकाश' की समरसता है। आगमिकों ने इस ज्ञान को अज्ञान के अनुरूप पौरुष एवं बौद्ध—दो प्रकार कहा है। जिस प्रकार पौरुष एवं बौद्ध-ज्ञान में परस्पर कार्यकारण भाव है—ठीक उसी प्रकार का सम्बन्ध पौरुष एवं बौद्ध-ज्ञान में भी है। गुरु के अनुग्रह से बौद्ध-ज्ञान का उदय होता है। बौद्ध-ज्ञान से बौद्ध-अज्ञान निवृत्त होता है और बौद्ध-अज्ञान निवृत्ति से पौरुष-अज्ञान भी निवृत्त हो जाता है। तदनन्तर बौद्ध-ज्ञान-निरपेक्ष पूर्वतः उदित (पर अज्ञात) पौरुष ज्ञान व्यक्त हो जाता है। फलतः, अज्ञान बंध से निर्मुक्ति हो जाती है—आणवमल हट जाता है, अपूर्णता चली जाती है—पूर्णाहंता का उदय हो जाता है—चिच्छक्ति का जागरण हो जाता है और शक्तिमान् से उसका सामरस्य हो जाता है—बोध और स्वातन्त्र्य में समरसता आ जाती है।

ऊपर कहा गया है कि एतदर्थ आगमिकों ने तीन साधन निर्धारित किए हैं—

शक्तिपात, दीक्षा तथा उपाय। पहले का सम्बन्ध परमेश्वर से, दूसरे का गुरु से और तीसरे का साधक जीवात्मा से है। मूलतः इस विवाद में कि भगवान की कृपा महत्त्वपूर्ण है या साधक का प्रयास (उपाय)—द्वैतवादी 'कृपा' को और अद्वैतवादी 'उपाय' को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। रही दीक्षा—सो, परमात्मा ही गुरु रूप से अपनी शक्ति का 'दीक्षा' के माध्यम से शिष्य तक संचार कराता है। तीनों के उपयोग की तारतमिकता साधक की आध्यात्मिक सम्पत्ति की मात्रा पर निर्भर है।

परमेश्वर का शक्तिपात या 'अनुग्रह' हुए बिना वैषम्य से सामरस्य की दिशा में कदम ही नहीं उठ सकता और वह 'अनुग्रह' परमार्थतः अहेतुक है – व्यवहारतः सापेक्ष भी निरूपित हुआ हो – यह दूसरी बात है ! अन्यथा उसके अनुग्रह को सापेक्ष या अन्यहेतुक (परमार्थतः भी) स्वीकार कर लेने पर उसका 'स्वातन्त्र्य' भग्न हो जाएगा। शक्तिपात की मात्रा के तीव्रतम होने से उस सत्तर्क की धारा उत्पन्न होती है, जिसे 'भावना' कहा जाता है, इसे ही 'दैवी-दीक्षा' भी कहा जाता है। इस सत्तर्क या शुद्ध विकल्प से अशुद्ध विकल्पों की उसी प्रकार निवृत्ति होती है—जैसे 'सोऽहमस्मि' इस अखंडाकार वृत्ति से अद्वैत वेदांतियों के यहाँ अन्य आविद्यिक वृत्तियों का निवारण हो जाता है। 'शिवोऽहं' ही शुद्ध विकल्प है—इससे 'अशुद्ध विकल्पों' की निवृत्ति हो जाती है और स्वतः प्रकाश परतत्त्व प्रकट हो जाता है। शक्तिपात की मात्रा जब कम होती है—तब इस सत्तर्क या भावना का स्वतः उदय नहीं होता, बल्कि गुरूपदेश की अपेक्षा होती है। गुरूपदिष्ट आगम से शुद्ध विकल्प आते हैं—वे अशुद्ध विकल्पों का उच्छेद कर देते हैं। शक्तिपात की मात्रा जब और कम रहती है तब गुरूपदिष्ट आगम से उद्भूत शुद्ध विकल्प ही मलिन विकल्पों के निःशेषक्षय में समर्थ नहीं होते—एतदर्थ जीव को अतिरिक्त 'उपाय' भी करने पड़ते हैं। वस्तुतः शुद्ध विकल्प की धारा ही साक्षात् योगांग है—अन्य अंग व्यवधानयुक्त हैं। अद्वैत वेदांतियों के यहाँ भी अखण्डाकार वृत्ति से आवरण भंग होता है और इन आगमिकों के यहाँ भी 'शिवोऽहं' जैसी अखण्डाकार भावना से आवरणात्मक अशुद्ध विकल्प की निवृत्ति होती है और स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है—फिर भी वेदान्तियों की स्वरूपात्मक अभिव्यक्ति 'चिन्मयशक्ति' से शून्य है, और आगमिकों का स्वरूप चिन्मयी विमर्शशक्ति से समरस या युक्त है। आगमिक साधना की नैगमिक साधना से वैशिष्ट्य इसी विमर्शात्मिका चिन्मयी शक्ति या बिन्दु रूपा कुण्डलिनी शक्ति के उद्बोधन और प्रकाशमय आत्मा को उससे समरस करने में ही है। नैगमिक साधना में यह नहीं है।

इसी का उद्बोधन 'पारमेश्वर शक्तिपात', 'गुरु कृपा' (दीक्षा) तथा 'उपाय' द्वारा होता है। यही साधना शक्ति-साधना है—यह बात अलग है कि उसके सकल, मिश्र एवं निष्कल-जैसे अनेक स्तर हैं। गुरु कृपा या पारमेश्वर अनुग्रह है क्या ? बिन्दु या कुण्डलिनी का विक्षोभ कार्य ही तो। यही कुण्डलिनी क्षुब्ध होकर

नाद का विकास करती है और यही नादानुसंधान शक्ति-साधना का मूल सूत्र है। यही शक्ति विश्वोत्तीर्ण दशा में मूलाधार के नीचे अधः सहस्रार में सुप्त रहती है और उक्त साधनों से उद्बुद्ध होकर ऊर्ध्वसहस्रार तक जाती है। अधः सहस्रार से ऊर्ध्वसहस्रार तक का मार्ग ही समस्त विश्व का मूलीभूत चक्र है। सामान्यतः इन चक्रों की संख्या छः मानी गयी है—पर ये कई हो सकते हैं। वास्तव में चक्र-भेद एक अधम-साधना ही है—क्योंकि ये चक्र अज्ञानराज्य ही में हैं—द्वैतराज्य में ही हैं। चिदग्नि रूपा कुण्डलिनी का जागरण होने पर उत्तरोत्तर चक्रमय कमलों में वर्णात्मक शक्तियों का विगलन होता है—वे भी नादमय होते जाते हैं—ये वर्ण, शक्तियाँ ही हैं। इस प्रकार आज्ञाचक्र तक का भेद होने पर ज्ञान का उदय होता है—इसके बाद 'बिन्दु' है—जहाँ साधक अहंभाव से प्रतिष्ठित होता है, पर अभी भी उसकी यात्रा समाप्त नहीं होती—उसे 'बिन्दु' के आगे 'महा-बिन्दु' तक पहुँचना है। 'बिन्दु' से 'महाबिन्दु' के बीच अर्धचक्र, वाद, नादान्त, रोधिनी, व्यापिनी, समना-जैसे आध्यात्मिक ठहराव या चक्र हैं। समना तक मनो राज्य है—इसके बाद उन्मनी-दशा है—जब इस अवस्था का भी अवसान हो जाता है—तब पूर्णता या महाशक्ति का उदय होता है। इस प्रकार 'बिन्दु' से 'महाबिन्दु' की दशा में आ जाने पर ही पूर्णता का उदय होता है—पराशक्ति की नित्य अभिव्यक्ति हो जाती है - यही सामरस्य या पूर्णाहंता की उपलब्धि है।

शक्ति-साधना या कुण्डलिनी का उद्बोधन पारमेश्वर शक्तिपात या गुरु कृपा से होता है, वैसे ही साधककृत 'उपाय' का भी विनियोग वहीं है। उपाय रूप में कहे गये जीवकृत साधन अधिकार भेद से विभिन्न प्रकार के सम्भव हैं। मनुष्य की बुद्धि से 'ध्यान', प्राण से 'उच्चारण' तथा देह अथवा इन्द्रिय-साध्य करण, मुद्रा एवं आसन आदि व्यापार हैं। इनमें से सबसे महत्त्वपूर्ण है—प्राण का उच्चारणात्मक व्यापार। विशिष्ट प्रक्रिया से प्राण एवं अपान के विरुद्ध प्रवाहों को समान स्थिति में लाया जाता है—समीभूत यह प्रवाह कुण्डलिनी के जागरण वश मध्यमार्ग सुषुम्णा में प्रवाहित होने लगता है। प्राण के साथ मन भी सूक्ष्म और निर्मल होकर ऊर्ध्व संचारी हो जाता है। इस प्रकार मन और वायु के ऊर्ध्व संचार के साथ कुण्डलिनी भी क्षुब्ध होकर नाद का रूप धारण कर ऊपर की ओर बढ़ने लगती है।

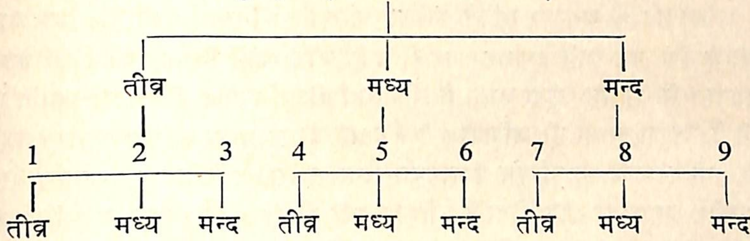
निष्कर्ष, यह आगमिक साधना शक्ति-साधना है और शक्ति-साधना कुण्ड-लिनी का उद्बोधन—जो अन्ततः द्वैत, द्वैताद्वैत या अशुद्ध एवं शुद्ध जगत की भूमियों को पार करती हुई—षडध्व का अतिक्रमण करती हुई, संकोचों से ऊपर उठती हुई, विस्तार को आत्मसात् करती हुई अंततः सामरस्यात्मक अद्वयावस्था को पहुँच जाती है। इस प्रकार अपने स्वातन्त्र्यवश अपनी ही 'शक्ति' जो विश्वात्मक प्रसार कर चुकी है—अवरोहण की नाना भूमियों—शुद्ध, अशुद्ध—पर उतर चुकी है—स्वतः आरोहण की ओर उसी स्वातन्त्र्यात्मा 'अनुग्रह' शक्तिवश बढ़ती है—जिसमें शक्तिपात, दीक्षा और उपाय का

विनियोग है। उस चिन्मयी कुण्डलिनीरूपा शक्ति का स्वभाव ही संकोच प्रसारात्मक है। इस संकोच-प्रसार के मूल में आनन्दमयता है। इस प्रकार यह सारा आरोहण और अवरोहण आनन्दात्मिका महाशक्ति का उच्छलन है।

"आनन्दोच्छालिता शक्तिः सृजत्यात्मनमात्मना"

जिस प्रकार शान्त एवं स्थिर जल राशि में एक रोड़ा फेंक दिया जाए—तो वह गिरकर चारों तरफ वृत्ताकार तरंगों को उत्पन्न करता है—और वे तरंगें एक सीमा तक प्रसृत होकर स्वतः संकुचित हो जाती हैं और जलाशय पुनः पूर्ववर्ती शान्त और स्थिर दशा में आ जाता है—वही स्थिति यहाँ भी समझें।

आगमिकों ने उक्त 'शक्तिपात' को सामान्यतः नव प्रकार का बताया है।



अनुग्रह की मात्रा तीव्र होने से 'उपाय' की मात्रा कम होती जाती है और अनुग्रह की मात्रा कम होने से 'उपाय' की मात्रा बढ़ती जाती है। 'तीव्र-तीव्र' शक्तिपात में ही 'शांभव-उपाय' का उत्कृष्ट रूप 'अनुपाय' नामक उपाय का उपयोग है। कुछ लोगों का विचार है कि यहाँ दीक्षा-निरपेक्ष ही अपवर्ग लाभ होता है—पर यह निश्चित है कि अपवर्ग के लिए आत्मसंस्कार अपेक्षित है और आत्मसंस्कार के लिए दीक्षा। इस प्रकार यहाँ जिस प्रकार की दीक्षा की अनपेक्षा कही गई है, वह बाह्य क्रिया दीक्षा है। इस प्रकार के तीव्रतम शक्तिपात में तत्काल ही अपवर्ग हो जाता है। यहाँ का ज्ञान अनुत्तर ज्ञान कहलाता है।

सं. 2 के अनुग्रह स्थल में जो दीक्षा होती है, उससे प्रतिभा-ज्ञान होता है। यहाँ स्वात्मा ही गुरु है। यहीं शांभव-उपाय का उपयोग होता है। सं. 3 के अनुग्रह से जो ज्ञान होता है, वह न तो अनुत्तर होता है और न तो प्रातिभ ही। यहाँ बाह्य क्रियात्मक दीक्षा और अतिरिक्त गुरु की आवश्यकता होती है। यहाँ साधक को गुरु की तीव्र आकांक्षा उदित होती है अथवा गुरु स्वयं चला आता है। सं. 2 में साधक का दीक्षामात्र से (बाह्य) साधक-कर्म-निरपेक्ष प्रातिभ-ज्ञान होता है। यहाँ दीक्षामात्र से ही सबकुछ नहीं हो जाता, साधक को भी अपनी ओर से 'उपाय' करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, सीधे रुपया देना एक बात है और चैक द्वारा देना दूसरी बात। पहली में कोई परेशानी नहीं है दूसरी में है। सं. 2 एवं सं. 3 में यही अन्तर है। इतना अवश्य है कि यहाँ की दीक्षा से साक्षात् ज्ञान हो जाता है, 'आणव-उपाय' की आवश्यकता ही नहीं रहती। 'शाक्त-उपाय' द्वारा शुद्ध विकल्प से अशुद्ध विकल्प का अपनयन हो जाता है। सं. 4 के अनुग्रह से बाह्य दीक्षा

तथा अतिरिक्त गुरु की आवश्यकता होती है। यहाँ दीक्षा या दृष्टिपातमात्र से साक्षात् ज्ञान नहीं हो पाता, प्रत्युत क्रियात्मक 'आणव-उपाय' द्वारा परम्परया ज्ञानोदय होता है। अर्थात्, गुरु ने दीक्षा द्वारा पौरुषबोध तो दे दिया है, पर साधक को उसकी उपलब्धि के लिए क्रिया करनी पड़ती है।

पारमेश्वर शक्तिपात निरवच्छिन्न (विज्ञानाकल तथा प्रलयाकल) आत्मा पर भी होता है और सावच्छिन्न (सकल) आत्मा पर भी। निरवच्छिन्न आत्मा पर परमेश्वर का शक्तिपात इच्छावश होता है। यह दीक्षात्मक शक्तिपात है। यहाँ निरधिकरण दीक्षा होती है। चूँकि यह पारमेश्वरी इच्छा है अतः उसकी पूर्ति के लिए क्रियाशक्ति की आवश्यकता नहीं है। 'सकल' आत्माओं पर शक्तिपात होने के अनन्तर ही क्रियासाध्य साधिकरण दीक्षा होती है।

शक्तिपात के अनन्तर मुक्ति के लिए 'दीक्षा' अनिवार्य तत्त्व है। यह बात दूसरी है कि वह कहीं इच्छासाध्य होती है और कहीं क्रियासाध्य। तीव्रतम शक्तिपात में जो यह सुना जाता है कि वहाँ दीक्षानिरपेक्ष ही स्वरूप ख्याति हो जाती है उसका इतना ही अभिप्राय है कि वह दीक्षा बाह्य एवं क्रियासाध्य नहीं होती। दीक्षा शब्द की परिधि में ज्ञानदान तथा पाशक्षपण निहित है—अर्थात् यहाँ दान और क्षपण का योग होता है। क्रियासाध्य दीक्षा के लिए स्वयं परमशिव ही सावच्छिन्न होकर गुरु रूप में अवतीर्ण होता है। स्वच्छंदतंत्र में इस क्रिया दीक्षा की प्रक्रिया का सविस्तार उल्लेख है। पारमेश्वर समावेशापन्न गुरु दीक्षा में ज्ञान द्वारा पाश-क्षय करता है और योग द्वारा शिवत्वयोजन। गुरु आत्मव्याप्ति, विद्याव्याप्ति से भी परे यदि शिवव्याप्ति तक पहुँचा हुआ है, तो वह शिवत्वयोजना भलीभाँति कर सकता है। इस प्रकार, दीक्षा से गुरु पौरुष-अज्ञान को ध्वस्त कर पौरुष-ज्ञान को स्थित करा देता है। पर उसकी अभिव्यक्ति तब होती है—जब सभी मल क्षीण हो जाते हैं। आणव एवं मायीय मलों के क्षीण होने पर शरीरस्थितिपर्यंत कार्ममल उस ज्ञान की अभिव्यक्ति में अवरोध पैदा करता रहता है। शरीरपात होने पर ही प्रारब्धक्षय होता है—कार्ममल विनष्ट होता है—तभी पौरुष-बोध पूर्णतः व्यक्त हो पाता है। फिर भी, जीवन्मुक्ति का अर्थ केवल इतना ही समझना चाहिए कि जीवनकाल में बौद्ध-ज्ञान से बौद्ध-अज्ञान नष्ट हो जाता है।

दीक्षा द्वारा पौरुष-अज्ञान के नष्ट हो जाने पर भी बौद्ध-अज्ञान बना रह सकता है और बौद्ध-अज्ञान के बने रहने पर सर्वानर्थ का मूल 'विकल्प' जाल ज्यों का त्यों बना रह सकता है। अतः उस बौद्ध-अज्ञान के लिए साधक द्वारा 'उपाय' किया जाना चाहिए। जिस प्रकार मटमैले दर्पण के सम्मुख कोई वस्तु पड़ी भी हो, तो वह उसमें प्रतिफलित नहीं होती, उसी प्रकार मलमय बुद्धि के समक्ष दीक्षा सम्पादित पौरुषेय बोध भी सन्निहित, पर अज्ञात रत्नराशि की ही तरह है। इसलिए, यह आवश्यक है कि 'उपाय' द्वारा बुद्धि-दर्पण के मलों को दूर करने का प्रयास करे।

उपाय चार प्रकार के बताए गए हैं—**अनुपाय**, शांभव, शक्ति एवं आणव।

शांभव की ही उत्कृष्टतम स्थिति 'अनुपाय' है। शांभव-उपाय इच्छात्मक, शाक्त-उपाय ज्ञानात्मक तथा आणव-उपाय क्रियात्मक है। अथवा, यह भी कहा गया है कि ज्ञान ही त्रिविध है—भेद, भेदाभेद तथा अभेद। अभेद ज्ञान शांभव, भेदाभेद शाक्त तथा भेद आणव है। पूर्व-पूर्व के उपाय उत्तरोत्तर के उपायों में कारण हैं। यों भी समझाया गया है कि शाक्त-उपाय में शुद्ध विकल्प से अशुद्ध विकल्प का अपनयन होता है। शांभव-उपाय में इस शुद्ध विकल्प की भी आवश्यकता नहीं होती। आणव-उपाय में क्रिया शक्ति काम करती है। क्रियात्मक उपायों में जप, ध्यान, भजन, आसन, प्राणायाम, मुद्रा आदि हैं। ये उपाय देहसाध्य हैं—अतः 'सकल' आत्मा के लिए ही इनकी उपयोगिता है। क्रियात्मक उपायों में भी भिन्न-भिन्न स्तर हैं। जिस साधक का चित्र जिस भूमि का अभिनिवेशी होता है—उसे उसी स्तर का क्रियात्मक उपाय करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, जिस साधक का चित्र मन में निविष्ट है, उसे मुद्रा या आसन स्वरूप क्रियात्मक उपाय करना पड़ता है और जिसका चित्र बुद्धि में निविष्ट है, उसे ध्यान रूप क्रियात्मक उपाय करना पड़ता है। विकल्पहीन परप्रमाता का निदिध्यासन करनेवालों को सद्यः स्वरूपोपलब्धि हो जाती है। इन साधकों को शाक्त-उपाय की आवश्यकता ही नहीं होती। परप्रमाता में तो शुद्ध विकल्प (शिवोऽहं) भी नहीं है। कारण, किसी भी प्रकार का विशेष बोध अन्य पक्ष के अभाव द्वारा अल्पता ही सूचित करता है। विकल्प चाहे, शुद्ध हो या अशुद्ध, अन्ततः सभी उपेक्ष्य हैं।

जीवात्मा को उपर्युक्त साधनों से प्रकृतिराज्य, मायाराज्य तथा महामाया-राज्य का बंध पार करना पड़ता है। प्रकृतिराज्य के पार करने के बाद विवेकख्याति होती है, फिर भी मायाराज्य में अशुद्ध विकल्पों से छुटकारा पाने पर ही पूर्णतः अशुद्धाध्वा को पार कर पाता है। अशुद्धाध्वा से शुद्धाध्वा में जाने के लिए दिव्य-ज्ञान, पूर्णज्ञान या शुद्ध विकल्प अपेक्षित है। शुद्धाध्वा में पहुँचने पर पूर्णज्ञान के साथ क्रिया शक्ति का मेल आरंभ हो जाता है। ज्ञान एवं क्रिया के समावस्थान होने पर ही पूर्णता आती है, तब शुद्धाध्वा को भी साधक पार कर जाता है। वस्तुतः यहाँ तीन तरह की स्थिति आती हैं—(1) पराशक्ति का स्तर (2) निरपेक्षपूर्णज्ञान-क्रियारूप इच्छा का स्तर तथा (3) सापेक्ष-ज्ञान-क्रिया की पूर्णता और इच्छा की अप्रधानता। तीसरी में इच्छा की पूर्ति के लिए ज्ञान और क्रिया अपेक्षित हैं। दूसरी में क्रिया-ज्ञान निरपेक्ष इच्छा की पूर्ति होती है और सर्वाध्वा-तीत प्रथम स्थिति में तो अपनी इच्छा को भी कष्ट नहीं देना पड़ता—वहाँ परा-शक्ति ही सबकुछ करती रहती है। इस प्रकार बंधहेतुभूत समस्त अध्वा से उक्त त्रिविध साधनों द्वारा 'पूर्णता' की उपलब्धि हो जाती है।

इस प्रकार भारतीय-साधना की इस नैगमिक और आगमिक भूमि पर उत्त-रोत्तर अन्यान्य प्रक्रियाएँ भी व्यक्त हुई हैं। औपनिषद अथवा वैदिक क्रियाओं में काल प्रवाह वश जो अवरोधक रूढ़ियाँ आने लगी थीं—उसकी प्रतिक्रिया हमें बुद्ध प्रचालित साधन धारा में मिलती है। बुद्ध ने देखा कि संसार व्यापिनी दुःख-धारा

का मूल है—तृष्णा और अनात्मा में आत्म-ग्रह। इनके भी मूल में है—अविद्या (क्लिष्ट एवं अक्लिष्ट अज्ञान)। 'मैं कर रहा हूँ'-- जैसे जागतिक अनुभवों में 'मैं' का अर्थ 'आत्मा' नहीं, 'निरात्मा' ही है—इसी 'नैरात्म्य' का बोध यदि हो जाए—'निरामणि' का साक्षात्कार हो जाए--तो सारे अभिनिवेशों की जड़ कट जाए और दीप की भाँति अहर्निश प्रवाह —नित्य चित्तधारा का वासना-स्नेह—ही सूख जाए---परिणामस्वरूप 'निर्वाण' मिल जाए—क्लिष्ट ज्ञान निवृत्त हो जाए—वैयक्तिक मुक्ति उपलब्ध हो जाए, 'शील, समाधि और प्रज्ञा' के द्वारा 'क्लेशावरण' का विनाश हो जाए—साधक 'अर्हत्' पद पर प्रतिष्ठित हो जाए। ऊपर कहा गया है कि भारतीय-साधना अधिकार-भेद से चलती है। कुछ 'चित्त' ऐसे हैं—जिनमें क्लिष्ट अज्ञान ही है, पर कुछ ऐसे भी हैं---जिनमें 'अक्लिष्ट अज्ञान' या 'शुद्ध वासना'—'जगत के उद्धार की वासना'—भी है—अतः ऐसे चित्रवाले साधकों की, 'शील, समाधि और प्रज्ञा' से वैयक्तिक निर्वाण प्राप्त कर लेने पर भी शुद्ध वासना का क्षय नहीं होता—फलतः उन्हें अपनी अतिरिक्त साधना को भी सक्रिय रखना पड़ता है। कहते हैं कि भगवान बुद्ध ने प्रथम धर्मचक्र प्रवर्त्तन सारनाथ में किया था—जिसे वैयक्तिक मुक्तिकामी 'हीनयानियों' ने अपनाया। पर गृध्रकूट में इन 'शुद्ध वासना' वालों के लिए उन्हें ही 'पारमितानय' का महायानोचित प्रवर्त्तन करना पड़ा। मनीषियों का कहना है कि तांत्रिक प्रवृत्तियों अर्थात् शक्ति-साधना का प्रवेश इसी नय या यान में हो गया था—जो गुप्त रूप से चलता था। इसका स्पष्ट प्रवर्त्तन आंध्र-देशस्थ 'धान्य कटक' पर किए जानेवाले तृतीय धर्मचक्र प्रवर्त्तन में प्रवर्तित 'मंत्रनय' में हुआ—इस साधन-धारा को 'मंत्रयान' के नाम से बोधित किया गया। 'मंत्रयान' में तांत्रिक गुह्य साधनाओं का पूर्णतः और स्पष्ट रूप में समावेश हुआ। इस यान में अधिकार-भेदवश अनेक साधन धाराओं में किसी को प्रमुखता और किसी को अप्रमुखता प्रदान करके चलनेवाली अनेक धाराएँ थीं—जिन्हें वज्रयान, सहजयान और कालचक्रयान के नाम से उल्लिखित किया जाता है। वज्रयान और सहजयान भारत-भूमि में फूलने-फलनेवाले यान हैं—पर कालचक्रयान भारत से उत्तर में जाकर अधिक लहलहाया। वज्रयान में मंत्र-साधना पर अधिक बल दिया जाता था, सहजयान में मंत्र-साधना को गौण कर दिया गया था और उसकी जगह 'सहज-साधना' ने ले ली थी। इन साधनाओं को एक धारा का पद्धति-भेद ही समझना चाहिए। वज्रयानियों की साधना 'वज्र-साधना' थी, उनका योग 'वज्रयोग' था— यहाँ तक आकर 'शून्यता' (महायानियों की) 'वज्र' रूप में उल्लिखित होने लगी थी—'शून्यता वज्र मुच्यते'। यहाँ महायानियों की 'शून्यता' और 'करुणा'—'वज्र' और 'पद्म' में परिणत हो गयी थी—तदर्थ 'प्रज्ञा' और 'उपाय' का प्रचलन बढ़ गया था—कदाचित् इसी आधार पर 'कमल कुलिशयोग' का नामकरण भी हुआ और 'मणिपद्मे हुँ'—इनका मूल मंत्र बना। हीनयानियों का अभावात्मक निर्वाण महायानियों में ही 'भावात्मक' रूप ग्रहण करने लग गया था और 'मंत्रयान' तक आते-आते तो वह 'महासुख' रूप

हो गया—यहाँ साधक का 'चित्त' ही गुह्य प्रक्रिया द्वारा जब 'बोधिचित्त' हो जाता है—तो वही 'महासुखात्मक' हो जाता है—जहाँ 'शून्यता और करुणा', 'प्रज्ञा और उपाय', 'कमल और कुलिश' का तांत्रिक दृष्टि के अनुकूल सामरस्य होता है। कहा ही गया है—'शून्यता करुणाभिन्नं बोधिचित्तं तदुच्यते'। बौद्ध सिद्धों ने स्पष्ट कहा है कि शून्यता और करुणा अकेले निरर्थक हैं—इनका युगबद्ध रूप ही महासुखात्मक और प्राप्य है।

इन मंत्रयानियों की तांत्रिक साधना वस्तुतः 'बिन्दु साधना' है। शरार में 'चित्त' की ही मलिन दशा 'संवृति-चित्त' या 'मलिन बिन्दु' है। गुह्य प्रक्रिया अथवा महामुद्रा साधना द्वारा साधक 'बिन्दु'को स्थिर कर उसे क्षुब्ध करता है और फिर उसका शोधन कर ऊर्ध्वसंचार करता है। जिस प्रकार 'बिन्दु' के अधःक्षरण से सुखानुभूति होती है उसी प्रकार 'बिन्दु' के ऊर्ध्वसंचार से भी। यह 'बिन्दु' या 'संवृति चित्त' महामुद्रा साधना की सहज प्रक्रिया से एक समय 'बोधिचित्त' बन जाता है और महासुख की अभिव्यक्ति हो जाती है। यह साधना स्पष्ट है कि घर के ही भीतर चलती है—जहाँ सहज ही 'बिन्दु' को थिर करके वारुणी या अमरता की साधना की जाती है।

महामुद्रा साधना द्वारा बिन्दु को क्षुब्ध करके उसका मध्यवर्तिनी अवधूतका नाड़ी में ऊर्ध्वसंचार किया जाता है मध्यवर्तिनी अवधूतिका में निर्माण-चक्र पर संक्षुब्ध बिन्दु के ऊर्ध्वसंचार का अभिप्राय है—समस्त विरोधी प्रवाहों का एकरस होकर ऊर्ध्व प्रवाह। श्वास-प्रश्वास की विरोधी धाराएँ—जो इड़ा एवं पिंगला में प्राण-अपान के रूप में प्रवाहित होती हैं—एकरस होकर अवधूतिका में लीन हो जाती हैं। बोधिचित्त के उत्पाद-बिन्दु के ऊर्ध्वसंचार के लिए ही प्रज्ञोपाया-त्मक इन दोनों नाड़ियों—इनमें संचरित प्राणापान वायुओं की एकरसता होती है। इस प्रकार बिन्दु के ऊर्ध्वसंचार के साथ प्राण एवं चित्त का भी ऊर्ध्व-संचार हो जाता है। इसी इड़ा एवं पिंगला को सिद्धों ने ललना-रसना, चंद्र-सूर्य, धमन-चमन, आली-काली, एवं ग्राहक-ग्राह्य, स्वर-व्यंजन, गंगा-यमुना, प्रकृति-पुरुष, नाद-बिन्दु, शुक्र-रज, अपान-प्राण, अभाव-भाव, निर्वाण-भव आदि शब्दों से कहा है। गंगा और यमुना के एकान्वित रूप अवधूतिका के बीच प्रवाहित होनेवाली बोधिचित्त रूपी नौका निर्माणचक्र, धर्मचक्र, संभोगचक्र से होती हुई महासुखचक्र या उष्णीयचक्र तक पहुँच जाती है। इन चारों चक्रों से बिन्दु के अतिक्रमण में चारक्षण, चार काय, चार मुद्रा, चार आनन्द की भी स्तरभेदसे चर्चा हुई है। चार क्षण हैं—विलक्षण, विमर्द, विपाक और विचित्र। एक ही आनन्द इन क्षण-भेदों के वश सहजानन्द, परमानन्द, विरमानन्द और आनन्द के नाम से बोधित होता है। एतदर्थ मुद्राएँ हैं—धर्ममुद्रा, कर्ममुद्रा, महामुद्रा एवं समयमुद्रा। बिन्दु-संचारवश चार काय हैं—निर्माणकाय, धर्मकाय, संभोगकाय एवं सहज-काय। बिन्दु वा संवृत्तिचित्त को बोधिचित्त रूप में परिणत करने की यह रहस्यात्मक प्रक्रिया तान्त्रिक बौद्ध मार्ग में निर्दिष्ट हुई है। यहाँ समस्त द्वन्द्वों का

प्रतीक है—इड़ा एवं पिंगला, और द्वयात्मक अद्वय का प्रतीक है—अवधूतिका—जिसके सहारे 'शून्यता करुणाभिन्न' बोधिचित्त या सहज दशा की महासुखमयी उपलब्धि होती है। इस ऊर्ध्वयान की प्रक्रिया का संकेत 'सेकोद्देश' की इन पंक्तियों से मिलता है—

यावन्नो पतति प्रभास्वरमयः शीतांशुधाराद्रवो—
देवीपद्मदलोदरे समरसीभूतो जिनानां गणैः।
स्फ़ुर्ज्जद् वज्रशिखागतः करुणयाभिन्नं जगत्कारणं
गर्ज्जद्धीकरुणाबलस्य सहजं जानीहि रूपं विभोः ॥

समस्त साधनाएँ 'महासुख' गामी हैं और तदर्थ मानसिक विक्षेप की शान्ति अपेक्षित है—यह विक्षेप इस धारा में शून्यता समाधि द्वारा शुक्लद्रव के ऊर्ध्व-संचार से ही सम्भव है।

इस प्रकार तान्त्रिक-गुह्य-साधना की ओर उन्मुख 'महायान' जहाँ एक ओर 'पारमिता' पर बल देता था, वहाँ वज्रयान 'मन्त्र-साधना' पर बल देता था और सहजयान 'मन्त्र-साधना' की जगह सहज और रागात्मक महामुद्रा-साधना पर बल देता था—फिर भी सर्वत्र 'चित्त' को 'बोधिचित्त' बनाना ही अभीष्ट था। एतदर्थ उनकी राजयोग एवं हठयोग की मिश्रित उपासना चलती थी। अपने सामूहिक अनुभव के आधार पर इन गुह्यमार्गी उपासकों ने उसे शास्त्र का व्यवस्थित रूप दिया—जो वज्रयानी साहित्य में मिलता है। 'गुह्य-समाज' तन्त्र में इस साधना का व्यवस्थित परिचय मिलता है। वहाँ 'प्रज्ञा' एवं 'उपाय' का योग विवेचित हुआ है। उपाय के चार रूप कहे गये हैं—सेवा, उपसाधन, साधन एवं महासाधन। **सेवा** भी दो प्रकार की है—सामान्य सेवा और उत्तम सेवा। सामान्य सेवा ही वज्र चतुष्ट्य है—जिसके द्वारा देवता का साक्षात्कार होता है। वज्र चतुष्ट्य का क्रम यह है—शून्यता प्रत्यय→उसकी बीज मन्त्रात्मक परिणति→मन्त्र की देवतात्मक परिणति→देवता की साकार विग्रहात्मक परिणति। इसकी सेवा में सिद्धि प्राप्त करने के लिए षडंग योग (ध्यान, धारणा, प्रत्याहार, प्राणायाम, अनुस्मृति और समाधि) का निर्देश किया गया है। इसी से उत्तम सेवा या ज्ञानसुधा सम्भव है। उपसाधन का लक्ष्य देवता साक्षात्कार है—पर जब उपसाधन को कार्यान्वित करने से लक्ष्यसिद्धि होते न दिखे—तो अपेक्षित मलिनता के अपनयनार्थ हठयोग को अपनाना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि हठयोग उत्तम-सेवा रूप राजयोग का अंग है। इन दोनों के रहस्यों से निष्णात व्यक्ति ही तान्त्रिक-योग या वज्रयोग में प्रवेश पा सकता है। 'साधन' वह क्रिया है—जिससे साधक इष्टदेव की प्राप्ति की तैयारी करता है। 'साधनमाला' में ऐसे साधकों का निर्देश है। इस साधन के दीर्घ काल तक अविच्छिन्न अभ्यास करने से शून्यता का प्रत्यय होने लगता है—फलतः इष्टदेव की झलक मिलने लगती है—इस प्रकार वह आगे बढ़ने लगता है। देवता साक्षात्कार से सिद्धियाँ मिलती हैं—पर इन सिद्धियों का विधान लोकहित के लिए ही होना चाहिए। इस प्रकार की विशेषताओं से

सम्पन्न 'वज्रयोग' साधक को 'पूर्णता' की प्राप्ति कराता है। इस तान्त्रिक वज्रयोग के चार स्तरों का निर्देश किया गया है —(1) विशुद्ध वज्रयोग, (2) धर्मयोग, (3) मन्त्रयोग, (4) संस्थानयोग। विशुद्ध वज्रयोग से काम-गत वज्रभाव की सिद्धि होती है, धर्मयोग से वाक्-गत, मन्त्रयोग से चित्त-गत एवं संस्थानयोग से ज्ञान-गत वज्रभाव की निष्पत्ति होती है। वज्रयान की साधना का चरम प्राप्य संक्षेप में यही है।

इस प्रकार बौद्ध साधना में हीनयानी साधना केवल वैयक्तिक-निर्वाण प्रदान कराती थी और वह भी केवल उसके लिए जिसमें 'शुद्ध-वासना' नहीं है—'अक्लिष्ट-अज्ञान' नहीं है। इसीलिए लोक-मुक्तिकारी, अक्लिष्ट-अज्ञानवाले व्यक्ति या साधक के लिए यह 'यान' छोटा पड़ने लगा और महायानी साधना का द्वितीय धर्मचक्र प्रवर्त्तन हुआ। इस यान में मुक्ति या बुद्धत्व की उपलब्धि के लिए अनियत जन्म-जन्मान्तर की अवधि अपेक्षित थी—अतः तृतीय धर्मचक्र प्रवर्त्तन में उस मन्त्रयान का उद्भव हुआ—जिसमें इसी जन्म और इसी शरीर में अभीष्ट लक्ष्य की उपलब्धि हो जाती थी। मन्त्रयान के अन्तर्गत वज्रयानियों की वज्रसाधना या कृच्छ्रसाधना की तुलना में सहजयानियों ने महामुद्रासाधना या रागमूलक सहजसाधना का मार्ग निकाला। इसी महामुद्रासाधना का प्रभाव आगे चलकर सहजिया वैष्णवों पर भी पड़ा। सहजिया बौद्धों ने जिस प्रकार अपनी रचनाओं में अनेक बार यह भाव प्रदर्शित किया है कि योगी चरमदशा में डोंबी, चाण्डाली, शवरी या योगिनी या निरामणि या सहजसुन्दरी से तादात्म्य करता है—उसी प्रकार सहजिया वैष्णवों में भी नारी-शक्ति के साथ रागात्मक भूमिका पर साधना का उल्लेख मिलता है। चंडीदास और रामी धोबिन का सम्बन्ध प्रसिद्ध ही है।

ऐसा प्रतीत होता है कि सहजयानी बौद्धों की बैंदव-साधना को (Sexo-Yogic-Practice) कुछ अनधिकारी साधकों ने पर्याप्त घृणित स्तर पर पहुँचा दिया – जिसकी प्रतिक्रिया एक तरफ नाथ साधना में और दूसरी ओर वैष्णव साधना में स्पष्ट परिलक्षित होती है। नाथ साधना में तो नारी की बड़ी भीषण निन्दा हुई। इसके अनुकूल पड़नेवाली वैराग्य भावना का साधक होने के कारण वेदान्तियों के मायावाद का भी अंशतः इन लोगों ने ग्रहण किया है। यह मायावाद निर्गुनियों में भी लक्षित होता है। प्रतिक्रिया में होता यह है कि वस्तु की 'अति' से उत्पन्न विरक्ति उस वस्तु के ही उच्छेद तक पहुँच जाती है। इसीलिए यहाँ रागात्मक वृत्तियों की ओर से बड़ी सजगता मिलती है। यही कारण है कतिपय आलोचकों को सन्तों में नाथों की अन्य विशेषताएँ तो मिलती हैं—पर 'भक्ति' नहीं। 'गोरख जगायोजोग भगति भगायो लोग' जैसी प्रसिद्धियाँ इसी सत्य की पुष्टि करती हैं। इनकी भावुकता को समाप्त करने के आवेश में इनमें राग की गन्ध देनेवाली श्रद्धा एवं विश्वास तक का अस्तित्व अस्वीकृत कर दिया गया है। लेकिन यह भी एक दूसरी अति है। नाथों में

श्रद्धा एवं विश्वास के स्तर की भी रागात्मक भावना नहीं थी—यह सर्वथा अग्राह्य है। गोस्वामी तुलसीदास ने 'याभ्यां बिना न पश्यन्ति सिद्धाः स्वान्तस्थ-मीश्वरम्'—इस पंक्ति के द्वारा वस्तुतः कहना यह चाहा है कि सिद्धों (नाथ) को भी आंतर-ईश्वर का साक्षात्कार तब तक नहीं हो सकता—जब तक श्रद्धा और विश्वास न हो। निष्कर्ष यह कि एक तरफ बैंदव-साधना की संभावित विकृतियों के कारण नाथ-पन्थ के पुनःसंस्थापक गोरखनाथ ने नारी निन्दा पर्याप्त की और उससे बचने का उपदेश दिया तो दूसरी तरफ वैष्णव साधकों ने नारी की महामुद्रा के रूप में आवश्यकता मानते हुए भी उसके साथ शारीरिक सम्बन्ध को नितान्त वर्जित बताया। चंडीदास एवं रामी के शारीरिक सम्बन्ध का उनके समस्त साहित्य में कहीं भी उल्लेख नहीं है। आपाततः यह विलक्षण-सी बात लगती है कि एक नारी को स्वच्छन्द प्रेम का आलम्बन बनाया जाए—और शारीरिक उत्तेजन तो हो न ? निश्चय ही यहाँ के राग का लक्ष्य भौतिक-आनन्द की तृप्ति नहीं है—बल्कि किसी अविशश्वर आनन्द में है। इस साधना का रहस्य साधक ही समझ सकता है। चंडीदास ने अन्तर्मुखी दृष्टि से यह कहा है कि इस साधना में अंग रूप से स्वीकृत तरुणी ऊपर से तो कुछ और ही प्रकार विमुख लक्षित होती है, परन्तु भीतर से वह प्रेम के लिए सबकुछ बलिदान कर देती है। उन्होंने यह भी कहा है कि नारी-प्रेम के माध्यम से मुक्ति की प्राप्ति में साधक शरीर को शुष्क यष्टि बना देता है। इसकी कठिनाइयों को वही समझता है—जो इस पथ को पार कर चुका होता है।

सहजयानियों का 'सहज', 'प्रज्ञा' और 'उपाय' का महासुखमय समरस रूप है। 'प्रज्ञा' और 'उपाय' को तान्त्रिक दृष्टि के अनुरूप स्त्री एवं पुरुष रूप में रूपित किया जाता है। तदर्थ बैंदव-साधना की उपयोगिता बतायी गयी है और महामुद्रा की अपेक्षा की गयी है। वैष्णव सहजियों के यहाँ 'दिव्य-प्रेम' को ही 'सहज' संज्ञा दी गयी और तदर्थ 'प्रेम' को साधन बनाया गया और माना गया कि कृष्ण एवं राधा के तादात्म्य से उस 'दिव्य-प्रेम' की उपलब्धि होती है। ये राधा और कृष्ण हर नर एवं नारी में विद्यमान हैं—वही उसका 'स्वभाव' है—उसी 'स्वभाव' (कृष्णभाव या राधाभाव) का अपने ऊपर 'आरोप' किया जाता है। हर पुरुष साधक किसी तरुणी को आलम्बन बनाकर अपने प्रेम का दिव्यी-करण करता है। यहाँ यह बात ध्यान देने की है यह प्रेम वह प्रेम नहीं है, जिसकी अदम्य भूख जीवात्मा में परमात्मा के प्रति होती है—विपरीत इसके यह वह प्रेम है, जो एक नर का नारी के प्रति है। वे मानते हैं कि प्रति नर एवं नारी शाश्वत प्रिय एवं प्रिया के ही भूतल पर अवतार हैं—अतः इनके परिष्कृत एवं पूर्ण प्रेम से ऊपर कोई वस्तु नहीं है। भौतिक आवरण में आवृत अपने शाश्वत नर-नारीभाव (राधा-कृष्ण भाव) के समरस प्रेममय रूप की उपलब्धि ही इनका काव्य है। अन्य वैष्णव भक्तों की भाँति यहाँ मानव एवं मानवी से ऊपर कोई सत्ता नहीं है—न उसका इनके प्रेम से सम्बन्ध है। हाँ, यह अवश्य है कि मानव

एवं मानवी का भौतिक 'रूप' वास्तव नहीं है—महत्त्व का नहीं है, महत्त्व का है भीतरी 'स्वरूप'। इसी 'स्वरूप' की उपलब्धि 'रूप' के माध्यम से होती है। प्रेमी साधक बाह्य 'रूप' पर 'स्वरूप' का आरोप करके ही 'प्रेम' साधना करता है। प्रेम साधना के माध्यम से जब 'स्वरूप' की उपलब्धि होती है—राधाभाव एवं कृष्णभाव का तादात्म्य हो जाता है—तभी सहज रूप या प्रेममय आत्मरूप की उपलब्धि होती है। यहाँ हम स्पष्ट देखते हैं कि तान्त्रिकों की भाँति द्वयात्मक अद्वय भी विद्यमान है—केवल 'प्रज्ञा' एवं 'उपाय' की जगह 'राधा' एवं 'कृष्ण' रूप में 'रूपावृत स्वरूप' की बात कही गयी है।

इस समय तक सूफियों का प्रभाव भी बंगाल में पर्याप्त हो गया था और उसने वहाँ के 'वाउल' सम्प्रदाय को पर्याप्त प्रभावित किया था—जो यह मानते थे कि 'सहज' वह शाश्वत प्रिय है—जो अपने ही अन्तर में रहता है—जिसे वे 'मनेर मानुष' कहते हैं। यद्यपि ये वाउल भी प्रेम और तादात्म्य की बात करते हैं—पर सहजिया वैष्णवों से इनमें अन्तर है। वे अपने ही भीतर अपने प्रेमास्पद को नहीं पाते—जबकि ये अपने मन के भीतर ही उसे पाते हैं और प्रेम के माध्यम से अपनी जीवात्मा से उसका तादात्म्य चाहते हैं। यहाँ जीवात्मा और परमात्मा का तादात्म्य है—अथवा यहाँ का साधक अपने को परम प्रेमास्पद मानस परमात्मा में अपनी सत्ता को लीन कर देना चाहता है। निश्चय ही 'सहज' सम्बन्धी इस नवीन धारणा पर सूफियों का प्रभाव है। पर इसके साथ इस बात को भी मानना होगा कि अपने ही भीतर परम प्रेमास्पद, महासुखमय काम्य सत्ता का अस्तित्व औपनिषद, तांत्रिक और बौद्ध सहजिया भी मानते थे। बौद्ध सहजियों की 'सहज' सम्बन्धी पिंडांतर्गत धारणा और उपलब्धि इस सन्दर्भ में विशेष महत्त्व रखती है। मध्यकालीन सन्तों में भी 'सहज' की चर्चा—जैसी कि आगे निवेचित होगी—इस पृष्ठभूमि पर ही विवेच्य है।

मध्यकालीन भक्ति साहित्य की रहस्यात्मक साधनधारा को समझने के लिए नाथ-साधना और वैष्णव-साधना की संक्षिप्त जानकारी अपेक्षित है।

नाथ-साधना में हठयोग की मुख्यतः चर्चा की जाती है—पर हठयोग या राजयोग षडंग और अष्टांग दोनों प्रकार का होता है। नाथों का हठयोग एक ओर मार्कण्डेय प्रवर्तित हठयोग से भिन्न है—तो दूसरी ओर पूर्वोक्त वज्रयानियों के तान्त्रिक हठयोग से भी भिन्न है। नाथ-साधना को काफ़ी पुराना कहा जा रहा है—हो भी सकती है—पर उसके साथ यह भी स्वीकार किया जा रहा है कि उस साधन-धारा में गोरखनाथ ने भी काफ़ी कुछ और भी जोड़ा है। यहाँ गोरखनाथ द्वारा संशोधित नाथ धारा ही विवेच्य है।

नाथ-साधना का लक्ष्य है—परावस्था, सहजावस्था—स्वभाव या सहज की उपलब्धि—पिण्डपद सामरस्य। पिण्ड और चिन्मय परमपद का सामरस्य तब तक सम्भव नहीं है जब तक पिण्ड जड़ात्मक है और उसका चेतन से भेद है। इसलिए पिण्डसिद्धि इस धारा का असाधारण वैलक्षण्य है। गोरखनाथ का योग

वही योग है जिससे देह और आत्मा का भेद मिटाकर सामरस्य स्थापित हो जाता है। एतदर्थ कुछ लोगों की यह धारणा है कि पिण्ड ज्ञान की भली-भाँति सिद्धि से पिण्डप्रद सामरस्य होता है। दूसरे लोगों का विचार है कि पिण्ड की आधारभूता शक्ति कुण्डलिनी है—जिसे कुल शक्ति भी कहते हैं। इसी का योगबल या गुरु-कौशल से जब प्रबोध होता है, तभी देहसिद्धि होती है। इस धारा में प्राणायाम के संयोग से देहस्थित सूर्य एवं चन्द्र का एकीकरण और उसके फलस्वरूप चिदग्नि का जागरण होता है। इस योगाग्नि से सप्तधातुमय पिण्ड दग्ध हो जाता है और एक नवीन चिन्मय देह का उदय होता है—यही सिद्ध देह है। इस देह पर प्रारब्ध का कोई प्रभाव नहीं होता। कहीं-कहीं नाथयोग को 'महायोग' कहा गया है—मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग एवं राजयोग – सब इसी की साधना प्रणालियाँ हैं। मन्त्रजाप मन्त्रयोग है, चित्तनिरोध लययोग तथा यम आदि अष्टांग तथा महामुद्रादि द्वादशांग कुल 20 अंग का हठयोग और हठयोग के अभ्यास से राजयोग होता है। चारों प्रकार के योगों का सामान्य लक्षण है—प्राण एवं अपान का समीकरण। इन योगियों का कहना है कि सिद्ध उसे ही माना जा सकता है, जो अपने देह में छः चक्र (कहीं-कहीं नव-चक्र) तीन लक्ष्य, सोलह आधार एवं पाँच व्योम को जानता है। समस्त साधनाएँ मानसिक-विक्षेप की शांति द्वारा ही चरम-दशा की उपलब्धि करती हैं। मन, प्राण एवं बिन्दु का परस्पर इस प्रकार सम्बन्ध है—कि इनमें से किसी एक की भी स्थिरता से शेष दोनों स्थिर हो जाते हैं—इसीलिए नाथ साहित्य में बिन्दु की स्थिरता, प्राणायाम की समरसता और मनोनिरोध की बात मिलती है। काया सिद्ध तो इनके योग का असाधारण वैशिष्ट्य है।

इस प्रकार रहस्यात्मक साधनाओं के इस विवरण से यह स्पष्ट है कि शैव-शाक्त आगमिक, बौद्ध सिद्ध एवं नाथ—सबके सब समान रूप से कुछ (मच्छंद-नाथ) सिद्धों को उपास्य और श्रद्धेय रूप से स्मरण करते हैं। घट के भीतर सभी साधना करते हैं—पिण्ड ब्रह्माण्ड की एकता स्वीकार करते हैं, नाड़ी चक्र की बात करते हैं, उलटी साधना करते हैं, बाह्याचारों एवं वाक्य ज्ञान को निरर्थक मानते हैं, बिन्दु-निरोध, प्राण-साधना तथा मनोनिरोध और काम-साधना को तारतमिक दृष्टि से सभी अपेक्षित मानते हैं—क्योंकि सामरस्य के सभी साधक हैं, समस्त द्वंद्वों के एकीकरण पर सभी बल देते हैं—पर इन समानताओं के बावजूद सबमें अन्तर केवल इस बात को लेकर है—कि कौन किस साधना पर बल देता है। वज्रयानी मन्त्र-साधना पर, सहजयानी बैंदव-साधना पर, सहजयानी वैष्णव रागतत्त्व के दिव्यीकरण पर एवं नाथपंथी कायसिद्धि पर मुख्यतः बल देते हैं। कबीर में भी सिद्धों एवं नाथों की सभी अनुभूतियाँ मिलेंगी और मिलनी भी चाहिएँ—क्योंकि किसी भी एक रास्ते चलकर साधक अन्य रास्तों से प्राप्त होनेवाली अन्य अनुभूतियों को पा लेता है—फिर भी कबीर की रहस्य-साधना भक्ति-साधना है—सुरत शब्दयोग या अजपा की साधना है। नाथ साहित्य में सुरति, निरति, शब्दयोग—सभी की चर्चा है, पर काय-साधना के पथ को जो प्रमुखता

दी गयी है—वह कबीर प्रवर्तित मार्ग में नहीं है। वैसे हंस-देह की बात कबीर साहित्य में भी उपलब्ध है।

इन नैगमिक, शैव-शाक्त आगमिक तथा यौगिक धाराओं के अतिरिक्त चौथी धारा—जो हमारे आलोच्यकाल की साधना को प्रभावित करती है—वह है—वैष्णव धारा। इस वैष्णवधारा की साधना में कुछ शाखाएँ तो ऐसी हैं—जिन पर पाञ्चरात्र एवं भागवत प्रभाव के अतिरिक्त शाक्तागम एवं बौद्ध आगम का भी प्रभाव है—अंशतः अन्य सूफी आदि साधनाओं की भी छाया है—पर कुछ शाखाएँ ऐसी हैं जिन पर विशुद्ध रूप से औपनिषद और पाञ्चरात्र तथा भागवत साधना का ही प्रमुख प्रभाव है। उदाहरण के लिए वैष्णव सहजिया, चैतन्य प्रवर्तित गौडीय साधना, उड़ीसा का पंचसखा सम्प्रदाय, धर्म-सम्प्रदाय—ऐसी वैष्णव धाराएँ हैं—जिन पर शैवागम एवं बौद्ध आगमों का भी प्रभाव है—पर मुख्य-रूप से विष्णु को आराध्य माननेवाली जो चार वैष्णव धाराएँ हैं—वे पाञ्च-रात्र एवं भागवत के निर्देशन में चलती हैं—वैसे ये धाराएँ अपने को वैदिक भी मानती हैं—अतः औपनिषद प्रभाव भी किसी-न-किसी अंश में लिए हुए चलती हैं।

पाञ्चरात्र एवं भागवत सम्प्रदाय : 'भक्ति' साधना को प्रमुखता देते हैं—वैसे 'योग' की भी अप्रमुख रूप में चर्चा करते हैं और उसकी उपयोगिता की भी बात करते हैं। आगम-सम्मत भक्ति धारा का ही प्रकाश शाण्डिल्य भक्ति सूत्र एवं नारद भक्ति सूत्रों में है। इसी भक्ति धारा के प्रमुख द्रविड़-आलवार-सन्त शठकोप ने नाथ मुनि को अष्टांग योग के गुह्य रहस्य की शिक्षा दी थी और उस नाथ मुनि के पौत्र यामुनाचार्य ने विशिष्टाद्वैती वैष्णव शाखा को शास्त्र-प्रतिष्ठ किया था। इसी परम्परा के रामानुजाचार्य ने उसे और प्रौढ़ि दी। इसी प्रकार क्रमशः वैष्णवों की अन्य तीन धाराएँ भी उदित हुईं—शुद्धाद्वैतवादी, द्वैतवादी एवं द्वैताद्वैतवादी। चैतन्य सम्प्रदाय को माध्व और निम्बार्कियों से सम्बद्ध किया जाता है—पर अन्य आगमों के प्रभावों ने उनका स्थान निराला कर दिया है। दक्षिण से उठी हुई भक्ति की यह घटा समस्त उत्तरी भारत में बरस गयी—सारा उत्तर भारत इससे प्लावित हो उठा।

मराठी सन्त अपने को 'भागवत' मानते हैं—किन्तु उनकी जो वारकरी शाखा है—वह नाथ परम्परा से भी अपने को सम्बद्ध करती है और शक्ति साधना की भी—कुण्डलिनी जागरण की भी मुक्त चर्चा करती है। इस वारकरी शाखा में भागवत की ज्ञानोत्तरा भक्ति—निर्गुण भक्ति तथा नाथ सन्तों का कायगत शक्ति जागरण दोनों का अपूर्व समन्वय उपलब्ध है। रामानुजाचार्य की परम्परा में रह-कर भी उनसे अपना पार्थक्य कर लेनेवाले रामानन्द में ही भक्ति और योग का उद्भट एकीकृत रूप मिलता है। आलोच्य युग के सन्त कबीर में वैष्णवों के प्रति, दक्षिण से भक्ति को लानेवाले रामानन्द के प्रति, वारकरी शाखा के नामदेव के प्रति जो श्रद्धा मिलती है—उससे पूर्ववर्ती साधनाओं और विश्वासों के निर्गुणों

में सन्तों में संक्रमण की प्रणाली का भी आभास मिल जाता है। डॉ. बड़थ्वाल नाथ और सन्तों के बीच निरंजनी शाखा को योजक मानते हैं—पर श्री परशुराम चतुर्वेदी उसे महत्त्व नहीं देते। दूसरी ओर भी विनयमोहन शर्मा कबीर सम्बद्ध निर्गुण मार्ग के प्रवर्त्तक रूप में नामदेव को इसलिए महत्त्व देना चाहते हैं कि निर्गुण सम्प्रदाय के सभी तत्त्वों का अस्तित्व नामदेव में ही मिल जाता है। इस सन्दर्भ में मेरा कहना यह है कि सभी तत्त्वों की अन्यत्र उपलब्धि महत्त्व की बात नहीं है—महत्त्व की बात है कि कौन-सी धारा किस पक्ष पर विशेष बल देती है? इसी सन्दर्भ में ध्यान देने की बात यह है कि वारकरी और निर्गुण धारा की साधना पद्धतियों में कोई अन्तर है या नहीं? यदि अन्तर है तो वही अन्तर नामदेव और कबीर में भी मान लेना होगा और अन्तर नहीं है तो वारकरी और निर्गुण धारा जैसे नामभेद को हटा देना होगा अथवा तीसरा मार्ग यह भी सम्भावित हो सकता है कि नामदेव को, वारकरी-साधन-धारा को अप्रमुखता और निर्गुण-साधन-धारा को प्रमुखता देनेवाला मानकर दोनों धाराओं की सन्धायक रेखा माना जाए।

इतना तो सुप्रसिद्ध है कि नामदेव ने महाराष्ट्र से लेकर पंजाब तक पहली बार ज्ञानदेव के साथ और फिर स्वयं अकेले यात्रा की भी—फलतः उन्हें उत्तर भारत की उन परिस्थितियों के बीच रहना पड़ा होगा जिनमें बाद को कबीर आए। फलतः भारतीय चिन्ता-धारा या साधन-धारा की वह समष्टि चेतना जो कबीर में प्रकट हुई या कबीर को माध्यम बनाकर युगानुरूप प्रकट हुई - अपनी आरम्भिक रूपरेखा नामदेव में निश्चय ही निर्मित कर चुकी होगी। जहाँ तक साधन-धारा का सम्बन्ध है—हो सकता है कि नामदेव में वारकरी पंथ की ही अपनी असाधारण धारा रही हो, विसोवाखेचर के निर्देशन में ज्ञानदेव के साहचर्यवश उसी साधन-धारा से नामदेव ने अपने वैयक्तिक संस्कारों के अनुरूप अपने आध्यात्मिक गन्तव्य को प्राप्त कर लिया हो। नामदेव की वारकरी साधना निश्चय ही भक्ति की साधना थी, वह भक्ति भागवत भक्ति थी—फलतः इसे ज्ञानोत्तरा भक्ति भी कहा जाता है—जिसके पर्याय रूप में निर्गुण भक्ति का प्रयोग भी ग़लत नहीं है। भागवत में निर्गुण तत्त्व और सगुण तत्त्व की परस्पर विरोधी स्थिति नहीं है—वहाँ निर्गुण एवं अद्वयात्मा का स्वरूप-—साक्षात्कार कर लेने पर रागात्मक वासना की तुष्टि के लिए आहार्य द्वैतभूमि पर भक्ति के रस में मग्न होने की बात कही गई है। पार्यन्तिक मग्नता इस आहार्य-भेद की भूमिका पर उन्मिषित सगुणलीला में होती है—यही कारण है कि सगुण-भक्ति का स्वर वहाँ अधिक मुखर है—पर निर्गुण आत्मसाक्षात्कार की भी बात वहाँ पृष्ठभूमि में है। इस प्रकार ज्ञानोत्तरा भक्ति की यह भागवत धारा ज्ञानदेव की भाँति नामदेव में भी सम्भव है। नाम साधना और उसका अजपा रूप भक्ति साधना में सम्भव है—यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं—इसका स्वर नामदेव के साहित्य में पर्याप्त मुखर है। उन्होंने कहा ही है—

"सूरत की सुई प्रेम का धागा।
तामे कबीर का मन हरि सो लागा।"

इस प्रकार किसी साधन धारा से अपने मूल प्राप्य की प्राप्ति कर लेने पर अन्य साधनाओं से प्राप्त होनेवाले अनुभव भी स्वयं होने लगते हैं। इसलिए इनमें विविधविध अनुभवों का मिश्रित रूप मिल सकता है। वारकरी साधन धारा से बढ़नेवाले नामदेव को जब अपना प्राप्य मिल गया होगा—तो उत्तर भारत की परिस्थितियों और संस्कारों की नाड़ी देखकर उसका निदान और उपचार भी उन लोगों की दृष्टि से सम्भव है नामदेव ने वह किया-करा हो और उन्हें अपनी रचनाओं में मुखरित भी किया हो। इसलिए जिन लोगों ने सन्तधारा या निर्गुनियाँ धारा का पूर्व रूप इनमें देखा है—उन लोगों ने ग़लत नहीं देखा है। साधक नामदेव की अपनी साधन धारा पृथक् भी हो सकती है—और स्वतः दूसरों के उद्धार के लिए प्रचलित धारा भिन्न भी हो सकती है—क्योंकि साधना का सम्बन्ध साधक के वैयक्तिक-संस्कारों से है। दूसरे साधक लोग अपनी वैयक्तिक साधना को या तो गुप्त रखते हैं या विभिन्न साधनाओं से मिश्रित करके इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं कि फिर भी उसकी गोपनीयता बनी ही रहे। ऐसी स्थिति में परम्परा और विश्वास का ही सहारा बहुत दूर तक निर्णय के लिए लेना पड़ता है। कबीर प्रर्वातित निर्गुण-साधना से इन बातों में नामदेव की साधना मिलती है कि दोनों नाम साधना को महत्त्व देते हैं— दोनों अजपा की बात करते हैं, दोनों भक्ति की व्याकुलता का अनुभव करते हैं, दोनों की चरम और आन्तरालिक अनुभूतियाँ बहुत कुछ एक हैं—फिर भी यह अन्तर हो सकता है कि नामदेव जिस 'नाम' की साधना करते हैं—वह नाम उनकी परम्परा में भिन्न हो और कबीर प्रर्वातित मार्ग में भिन्न हो। श्वास-प्रश्वास के माध्यम से नाम-जप तो सूफी भी करते हैं—पर क्या वे उसी नाम का जप करते हैं जिसका तुलसी और सूर करते हैं? 'नाम साधना' तक साम्य रहते हुए भी अन्य अवान्तरभेदक बातें साधक के संस्कार के अनुरूप हुआ करती हैं। इन सब कारणों से यह मानते हुए भी कि नामदेव और कबीर में बहुत साम्य है—दृढ़तापूर्वक अभिन्न कहना काफ़ी कठिन है। इसीलिए निर्गुण धारा का उन्हें प्रवर्त्तक कहने में पर्याप्त प्रमाण की अपेक्षा है।

अस्तु, जो भी हो, पर इतना स्पष्ट है कि मध्यकालीन धर्म-साधना नाम-साधना पर अत्यधिक बल देनेवाली है। इस नाम-साधना की मुख्यतः दो दिशाएँ हैं—नादपर्यवसायी तथा रूपाभिव्यक्ति एवं भावोपासनापूर्वक रसपर्यवसायी। म. म. गोपीनाथजी कविराज का कहना है कि ये दोनों पथ परस्पर-सम्बद्ध भी हो सकते हैं और पृथक् भी हो सकते हैं। वस्तुतः साधना का प्रामाणिक विवेचन न तो इस रहस्यमय राज्य में प्रवेश पाए बिना सम्भव है और न केवल रहस्यदर्शियों के उद्गारों मात्र के सहारे ही। फिर भी जहाँ तक सम्भव है—यही कहा जा सकता है कबीर कि प्रर्वातित नाम साधना की दिशा नादपर्यवसायी दिशा है।

कबीर प्रवर्तित संत-साधना में 'सुरतशब्दयोग' पर जो सर्वाधिक बल दिया गया है—उसमें 'सुरत' का 'शब्द' या 'नाद' से 'योग' ही तो कहा गया है। इस नाद-साधना से मूढ़ चित्त का उद्‌बोधन और उसमें स्थैर्य उत्पन्न किया जाता है। इस प्रकार फिर आगे की यात्रा तय की जाती है।

समस्त निर्गुनिएँ सन्त समस्त तर्क-वितर्कों से अतीत जिस 'अनुभव' पर बल देते हैं—वह है 'सहज' (आत्मरूप) का अनुभव। कबीरदास का स्पष्ट कहना है कि 'हस्ती चढ़िया ज्ञान का सहज दुलीचा डारि'—जिसके स्वर में दादू का भी कहना है—'दादू सरवर सहज का तामें प्रेम तरंग'। इस 'सहज' का कबीर ने अनुभव किया है और उन अतत्त्वज्ञ और केवल 'सहज-सहज' की रट लगानेवालों को फटकारते हुए कहा है—

सहज-सहज सब कोउ कहै सहज न चीन्है कोइ।
पाँचो राखै परसती सहज कही जै सोइ।।

'सहज' शब्द की रट तो बहुतों ने लगा रखी है—पर उसको ठीक-ठीक जाननेवाले कितने हैं—सहज वह नहीं है जिसकी प्राप्ति के लिए पाँचों इन्द्रियों और उनके विषयों का हठात् परित्याग करना पड़े—कोई कष्टसाध्य मार्ग पकड़ना पड़े—'सहज' वह है जिसमें सभी इन्द्रियाँ और विषय संस्पृष्ट और रक्षित हैं—फिर भी सहज ही में जो प्राप्त हो जाता है। इस मार्ग में कुछ ऐसा क्रम है कि 'सुरत' का सहज ही 'शब्द' से 'योग' हो जाता है—और इस क्रम से जीवात्मा परमात्मा से एकरस होकर सहज ही अपने सहज रूप का अनुभव कर लेता है। इसीलिए कबीर ने कहा है—

जिन सहजै विषया तजी, सहज कहीजै सोइ।
जिन सहजै हरि जी मिलै सहज कहीजै सोइ।।

यह ऐसी सहज साधना है कि इसमें विषयों को हठात् छोड़ना नहीं पड़ता, वरन् महारस के अनुभव के फलस्वरूप विषयरस स्वयं छूट जाता है और सहज ही सहज की उपलब्धि हो जाती है। मनुष्य की सहज प्रवृत्ति राग-मार्गी है—उसमें रागात्मक वृत्ति का सहज उन्मेष रहता है, पर विरागात्मक-वृत्ति को बलात् उत्पन्न करना पड़ता है। सन्तों का मार्ग 'राग-मार्ग' है—हाँ, यह अवश्य है कि उस राग का मुख 'सहज' की ओर है—चिदानन्दमय निजस्वरूप की ओर है। इसी 'नामी' की उपलब्धि के लिए वे 'नाम' की साधना करते हैं। गुरुनिर्दिष्ट 'नाम-साधना' की विशिष्ट प्रक्रिया 'सुरतशब्दयोग' का आरम्भिक रूप है।

'सुरतशब्दयोग' को समझाते हुए इन सन्त मत वालों ने कहा है कि शब्द दो प्रकार के होते हैं—आहत और अनाहत। पहला दो पदार्थों के संघर्ष या पारस्परिक आहनन से उत्पन्न होता है और दूसरा स्वतः या हनन-निरपेक्ष अभिव्यक्त होता है। इन लोगों को धारणा है कि आनन्दमय परतत्त्व लीलार्थ जब शक्ति को सृष्ट्यर्थ उच्छलित करता है—तब वह खण्ड-खण्ड होकर बिखरती हुई अधोगामी दशा में चिन्मयी होकर भी उलट जाती है—जड़वत् हो जाती हैं। ये ही

शक्तियाँ अधोमुखी स्थिति में आत्मा पर आवरण बन जाती हैं और पारमेश्वर अनुग्रह, गुरु-अनुग्रह या साधक के उपाय से जब ऊर्ध्वमुखी होकर उलटने लगती हैं—तो मानो आत्मा पर पड़े हुए आवरणों की ग्रन्थियाँ चटक-चटक कर टूटने लगती हैं—फलतः चिन्मयता की रश्मियाँ फूटने लगती हैं—शक्तियाँ अनभिव्यक्त दशा से अभिव्यक्त दशा में आने लगती हैं। हर अभिव्यक्ति शक्ति के साथ एक अनाहत नाद भी व्यक्त होता है। भौतिक अवरोहण में शक्तियों के अधोमुख होने से जो विभिन्न आवरण तैयार होते हैं—उपनिषदों या तन्त्रों में इन्हीं को कोश या चक्र कहते हैं। ये कुछ और नहीं, बल्कि शक्तिचक्र ही हैं। विशिष्ट प्रक्रिया से जब ये आवरण चक्र ऊर्ध्वमुखी होकर उलटने लगते हैं—तो उसका अर्थ यह होता है—अव्यक्त या जड़वत् शक्तियाँ ही व्यक्त और चिन्मय रूप ग्रहण करने लगती हैं—जिनके साथ अविनाभूत रूप में नाद लगा रहता है। इसी अनाहत नाद में सुरत का लग जाना 'सुरतशब्दयोग' है। अवरोहण काल में ये शक्तियाँ आत्मा को बहिर्मुख और जड़-प्रिय बनाती हैं और आरोहण काल में अन्तर्मुख और स्वरूप मग्न करने में सहायक हो जाती हैं। ये आवरण केन्द्र ही विभिन्न आध्यात्मिक ठहराव हैं—जिनका पीछे विवरण दिया गया है। इसी के साथ एक और बात जानने की है और वह यह है कि प्रत्येक नाद में यह भी शक्ति रहती है कि वह जिस केन्द्र या स्थान से उठता है— वहाँ की भाव-सम्पत्ति का भी साक्षात्कार करा देता है। इस प्रकार इस योग के सहारे शक्ति-संचय और रहस्य-दर्शन करता हुआ सुरत या आत्मा 'पूर्णता' की ओर अग्रसर होता है— अपनी बिखरी हुई शक्ति-रश्मियों से पुनः एकरस हो जाता है।

पर यह 'सुरतशब्दयोग' हो कैसे ?—सन्तों ने एतदर्थ नाम स्मरण एवं इष्ट ध्यान की बातें कही हैं। ये नाम स्मरण या जप तथा ध्यान की प्रक्रियाएँ रहस्यदर्शी गुरु के निर्देश एवं कृपा से ही सम्भव हैं। शास्त्र भी मानते हैं कि नादानुसंधान जप की ही एक विशिष्ट अवस्था की परिणति है। कुण्डलिनी एक आत्मशक्ति ही है—जिसके उत्थान से नादाभिव्यक्ति होती है और कुण्डलिनी का उत्थान यद्यपि विभिन्न तरीकों से सम्भव है— तथापि 'जप' उनमें स्वल्पायाससाध्य एवं सर्वजन सुलभ है। जप के विभिन्न रूपों से बाह्य और आन्तर ये दो भेद प्रमुख हैं। वैखरी-जप कण्ठ-जप है और यह निश्चय ही प्रयत्नसाध्य होने के कारण बाह्य जप है। वस्तुतः वाचिक, उपांशु और मानसिक—ये तीनों ही प्रकार के जप प्रयत्नसाध्य होने के कारण वैखरी जप में ही अन्तर्भूत हैं। इसके बाद आन्तर-जप की दूसरी दशा का उदय होता है—जहाँ निष्प्रयत्न जप का होना आरम्भ हो जाता है। यह स्वभाव का जप है—जिसके तीन रूप हैं—हृदय में, नाभि में और फिर मूलाधार में—मध्यमा, पश्यन्ती एवं पराभूमियों में। हृदय-जप ही मध्यमा का उत्थान है—इस अवस्था में नाद स्वयं चलने लगता है। पर वैखरी से इस मध्यमाभूमि तक आने में गुरु की कृपा और अपना प्रयत्न अपेक्षित है। इसी उपाय के अन्तर्गत जप, ध्यान, निष्काम कर्म, देह एवं चित्त का शोधन—पर्याप्त

सहायक माने जाते हैं। कदाचित् वैखरी से परा तक की ही यात्रा को ध्यान में रखते हुए इन सन्तों ने कहा है—

"सबका आदि शब्द को जान। अन्त सभी का शब्द पिछान" [सारवचन]

सन्तवर कबीर ने भी कहा है—

साधो शब्द साधना कीजै।
जेहि शब्द ते प्रगट भए सब, सोई गहि लीजै
× × × ×
सब्दै माया जग उत्पानी सब्दै केर पसारा।
कहै कबीर जहँ शब्द होत है, तौन भेद है न्यारा ।।[1]

आगमिक धारा मानती है कि अधोमुखी शब्द धारा 'विकल्प' है—विकल्प की जननी है—आवरण और बन्धन है। ऊर्ध्वमुखी होने पर वही शब्द धारा 'विकल्प' से पार न होने में सहायक है। एतदर्थ 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'—नाम का जप और नामी का ध्यान आवश्यक है।

जप के सन्दर्भ में सन्तों ने जप या पिपीलिका जप, सूरत जप या अजपा जप, मीन जप आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है। कण्ठ जप को पिपीलिका, दिनरात में 21600 बार निकलनेवाले श्वास-प्रश्वास के द्वारा किए जानेवाले जप को मीन जप कहा गया है। अजपा जप का सन्तों ने अनेकधा उल्लेख किया है—उपनिषदों या अन्यान्य स्थलों में भी इसका विवेचन है। कण्ठ जप, वैखरी जप, पिपीलिका जत, किंवा समस्त प्रयत्न-संपाद्य जप बाह्य जप हैं—जो आन्तर जप में साधन का कार्य करते हैं। वस्तुतः मध्यमा भूमि में नाद-सहित मन्त्र जप स्वभावतः ध्वनित हो उठता है—तभी 'आंतर जप' कहा जाता है। अजपा जप की साधना सन्तों ने श्वास-प्रश्वास के सहारे अनुष्ठित करने की बात कही है—पर वास्तव में अजपा जप उसे कहना चाहिए या कहा गया है—जब स्वभाव से ही जप की क्रिया सम्पन्न होने लगे। प्रयत्नपूर्वक करना चाहे वह किसी प्रकार का प्रयत्न हो—वास्तविक अजपा जप नहीं हैं। 'हं' एवं 'सः' के रूप में सक्रिय प्रश्वास एवं श्वास की धारा उलटकर 'सः हं' 'सोऽहं' के रूप में स्वतः चलने लगे—तभी अजपा जप की निष्पत्ति समझनी चाहिए। इस साधन की उत्तम, मध्यम एवं अधम जैसे अधिकारी-भेद से साधना में भी भेद आ जाता है।

इस स्वाभाविक जाप को तटस्थ द्रष्टा बनकर देखने की स्थिति में आने के लिए भावना या ध्यान की भी चर्चा सन्तों ने की है। इस ध्यान की क्रिया में नेत्रों और त्रिकुटी का बड़ा महत्त्व गाया गया है। सन्तों ने कहा है—

1. मिलाइए—

"शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबंधिनी।"
"वागेव विश्वा भुवनानि यज्ञे बाच इत सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्"
"वैखरी विश्वविग्रहा।"

स्वास उस्वास विचार कर, राखे सुरति लगाए।
दया ध्यान त्रिकुटी धरे, परमातम दरसाए।

इन पंक्तियों में 'स्वभाव' या 'सहज' तक पहुँचने की प्रयत्न-सम्पाद्य दोनों—जप एवं ध्यान—ही क्रियाओं का उल्लेख है। जिस प्रकार 'स्वभाव' या 'सहज' की उपलब्धि के लिए श्वास-प्रश्वास में स्वरूप की भावना करनी पड़ती है उसी प्रकार ध्यान भी स्वरूप में लगाया जाना चाहिए। सुरति (सुष्ठुरति अथवा अंतःकरण की एकतान रागात्मिका वृत्ति) को नेत्रों की पुतलियों को उलटकर त्रिकुटीस्थ 'स्वरूप' में लगा देना चाहिए। सारवचन में कहा गया है—

नैन उलटि सुत मोड़कर चढ़े, पुकारे संत।

ज्ञान सागर में भी कहा गया है—

जहाँ जगत गुरु रहत हैं तहाँ जे सुरति समाए।
तो दोनों नैना उलटि कर कौतुक देखे जाए॥

इस प्रकार ये प्रयत्न तब तक चलें—जब तक वे स्वभाव-गत न हो जाएँ—या 'स्वभाव' पर्यवसित न हो जाए—'सहज' को जगा न दे।

इस सन्त-प्रोक्त जप एवं ध्यान की प्रक्रिया के मार्ग को 'विहंगम-मार्ग' कहा गया है—इस मार्ग से आरम्भ में 'सुरति' सावलम्ब 'एकाग्र' रहती है—आगे चलकर यह स्थिति भी आ जाती है कि वह निरालम्ब एकाग्रता-लाभ कर लेती है। 'सहज' या 'स्वभाव' का प्राकट्य हो जाने पर 'सुरति' एवं 'निरति' का पार्थक्य मिट जाता है—निरालम्ब एवं सावलम्ब समाधि या ध्यान का कोई अन्तर नहीं रहता—व्युत्थान एवं निरुत्थान का पार्थक्य विगलित हो जाता है।

इसी अभिप्राय से सन्तों ने कहा है—

सुरति समानी निरति में निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया तब खुला स्पंभ द्वार॥

सुरति एवं निरति की एकरस 'सहज' अवस्था को पहुँचानेवाला सन्त-मार्ग ही 'विहंगम-मार्ग' है। यहाँ हठयोगियों की भाँति काल एवं श्रम-साध्य पिपीलिका-मार्ग कठिन होने के कारण अग्राह्य है। यहाँ तो 'सूरत जाप विहग है जानत परम प्रवीन'—के अनुसार एक तरफ विहंग जाप है तो दूसरी तरफ ध्यान के माध्यम से पिंड एवं ब्रह्माण्ड की सन्धि त्रिकुटी को लाँघ जाना विहंगमी प्रक्रिया है। संतों की साधना मूलाधार से चींटी की भाँति आरम्भ नहीं होती।

पिपीलिका मार्ग क्रम-मार्ग है—जहाँ एक आश्रय को छोड़कर दूसरे आश्रय को पकड़ते हुए पिंड की सीमा पारकर ब्रह्माण्डवर्ती सहस्रार तक साधक पहुँच जाता है, इस मार्ग में चक्रभेद क्रमशः होता है। विहंगम मार्ग अक्रम मार्ग है—वह निरालम्ब गगनचारी मार्ग है—वहाँ सक्रम चक्रभेद के बिना ही साधक पिंड से उड़कर ब्रह्माण्ड में पहुँच जाता है और चक्रभेद की क्रिया स्वतः पूर्ण हो जाती है। इस प्रकार पूर्व की इस यात्रा के अनन्तर पश्चिम दिशा की ओर वह महाशून्य में उड़ता चला जाता है—अन्त में वह उस भँवर गुहा को पहुँचता है—जो

सत्यराज्य का द्वार है। यह महाशून्य एवं भँवर गुहा ब्रह्माण्ड के परे है। इसी भँवर गुहा में आने पर योगी विशुद्ध शब्द सुनता है—कारण, इस दशा में सुरति, निरति, मन एवं प्राण सभी स्थिर हो जाते हैं। यह शब्द अनुच्चार्य होने से अजप और शून्य-प्रसूत होने से अनहद या अनाहत है। इस विशुद्ध शब्द का साक्षात्कार सत्पुरुष के स्वरूप के साक्षात्कार से भिन्न नहीं है—एक ही वस्तु है – यही नाम और नामी का अभिन्न साक्षात्कार है—यही सहज दशा है।

आध्यात्मिक साधना को सूफियों ने भी अनेक स्थलों पर गोप्य और गुह्य कहा है। कहने को तो यह भी कहा जाता है कि हजरत मुहम्मद ने ही जहाँ एक ओर प्रकाश्य मार्ग या मजहब का प्रवर्त्तन किया, वहीं दूसरी ओर एक गुह्यमार्ग का भी प्रवर्त्तन किया था—जो बाद में चलकर सूफियों के साहित्य में प्रकट होने लगा। साधना की गोप्यता का संकेत करते हुए उसमान ने अपनी 'चित्रावली' में कहा है—

गुपुत रहहु कोउ लखै न पावै। प्रगट भए कुछ हाथ न आवै।
गुपुत रहे ते जाइ पहूँचे। परगट नीचे गए विगूचे।।

इसी बात को अली मुराद ने भी 'कुँवरावत' में इस प्रकार कहा है—

"जितना छिपै छिपावो प्यारे। मत हृदय से करो उभारे।"

इस प्रकार ये सूफी भी साधना की बुद्धि-बोध्य प्रक्रियायों को तो गोपनीय या गुह्य रखते ही हैं—'पिउ हिरदय महँ भेंट न होई' में आस्था रखने के कारण घट के भीतर उसे खोजने के संदर्भ में कुछ स्वतः रहस्यमय प्रक्रियाएँ भी अपनाते हैं। साधना के इस दूसरे पक्ष में भारतीय हठयोग एवं तांत्रिक और रासायनिक प्रक्रियाओं का समावेश किया जाता है।

सूफी लोग इस मानवीय शरीर के भीतर चार चीजें स्वीकार करते हैं—दो भौतिक और दो अभौतिक या दिव्य। नफ्स और अक्ल यदि भौतिक होने से त्याज्य हैं—अध्यात्म मार्ग में अनुपयोगी हैं—तो रूह और क़ल्ब दिव्य हैं—फलतः अध्यात्म मार्ग में उपादेय हैं। इसी 'क़ल्ब' या हृदय (या भावना) के माध्यम से 'रूह' का साक्षात्कार करना है। आलमे नासूत से आलमे लाहूत का चिर-अभीष्ट एकीकरण भावना के परिष्कार से ही सम्भव है। एकीकरण की भूमिका पर पहुँचा देनेवाली भावना है—माधुर्य भावना। जितनी शीघ्र एवं गहरी आत्मविस्मृति और तन्मयीभवन की क्षमता इस भावना में है—उतनी और किसी भी भावना में नहीं। इस भावना की, जिसे सूफी इश्क कहते हैं—आग जब प्रज्ज्वलित हो जाती है—तो सभी बाधक या तो निःशेष हो जाते हैं या साधक बन जाते हैं। नफ्स-जगत के सम्पर्क से जो मालिन्य 'क़ल्ब' पर जम गया है – उसका सफाया प्रेम की आग ही कर सकती है। पर यह 'प्रेम' ही किस क़दर उत्पन्न हो ? सूफी मानते हैं कि रूप और प्रेम का अविच्छेद सम्बन्ध है। परम-सौन्दर्यमयी 'रूह' अपने सौन्दर्य को जीव और जगत में प्रतिफलित करती है। इस समझ से साधक जब किसी 'बुत' को माध्यम बनाता है—तब 'उस' सत्ता के प्रति

'प्रेम' उत्पन्न होता है। प्रेम की इस आग को पानी की तरह बुझा सकती है — भौतिक तृप्ति या इन्द्रिय-तृप्ति; और हवा की तरह बढ़ाता है—विरह। इसलिए रूप और प्रेम का सम्बन्ध होने के बाद विरह की प्रचण्ड वायु अपेक्षित है—तभी सशक्त अग्नि अविच्छिन्न और धाराधिरोह बढ़ती है—फलतः एकीकरण की प्रेममय परमअस्तित्व को प्राप्त हो जाने की—दशा के बाधक तत्त्व (भेद और भेदोत्पादक अहंता, स्वार्थ आदि) निःशेष हो जाते हैं। सूफी साधना के इन तीन तत्त्वों की ओर संकेत करते हुए उसमान ने अपनी चित्रावली में कहा है—

रूप प्रेम मिलि जो सुख पावा। दूनहुँ मिलि विरहा उपजावा॥

× × ×

रूप प्रेम विरहा जगत मूल सृष्टि के थम्भ।
हौं तीनहुँ के भेद कहु, कथा करौं आरम्भ॥

मुख्यतः हर सूफी साधक और कवि इसी प्रेम-साधना को (इश्क मजाजी के द्वारा इश्क हकीकी उत्पन्न करने की साधना) अपनी कृतियों के माध्यम से प्रचारार्थ प्रस्तुत करते हैं। एक रहस्यवादी का कहना है—

दौलत मिली है इश्क की अब और क्या मिले।
वह चीज़ मिल गई है जिससे खुदा मिले॥

यह इश्क की आग क़ल्ब की काठी को उतनी ही शीघ्र पकड़ेगी जितना ही वह विषय-रस से असंपृक्त हो—जितनी ही सूखी हो। विषय-रस को निचोड़कर पृथक् कर देने के लिए अन्य अवान्तर प्रक्रियाओं को भी साधक अपने संस्कार के अनुरूप ग्रहण करता है। सूफियों ने इस आन्तरालिक सहायक साधनाओं की भी चर्चा की है। बायज़ीद बुस्तानी ने कहा है कि जब भगवान मनुष्य से प्यार करते हैं तब वे इस प्रेम के चिह्न रूप में उसे तीन गुणों से युक्त कर देते हैं—सागर की भाँति उदारता, सूर्य की-सी सहानुभूति और धरती के समान नम्रता। खुदा जिस बन्दे में अपने प्रति प्रेम पैदा करता है उसके प्रति उसके हृदय में उससे पहले ही प्रेम उत्पन्न हो जाता है। प्रेम की परिभाषा बताते हुए जुनायद बगदादी ने कहा है कि पूर्ण प्रेम का लक्षण है हर्ष और आह्लादपूर्वक हृदय में भगवान् का निरन्तर स्मरण, उनके लिए अदम्य लालसा एवं उनके साथ घनिष्ठता। सूफी कवि नूरमुहम्मद ने इन्हीं बातों को मन में रखकर इश्क-साधना के विषय में 'जिक्र' और 'मुराक़बत' या ध्यान और सुमिरन को बहुत महत्त्व दिया है। उसने कहा है—

"मन के मालै सुमिरैं नेही लोग।
ध्यान और सुमिरन सौं पूरन जोग।"

इस प्रकार ध्यान और सुमिरन से इश्क-योग पूरा हो जाता है और 'वस्ल' (मिलन) की स्थिति आ जाती है। हाँ, तो मैं यह कह रहा था कि इस इश्क की आग को उत्पन्न करने के लिए और भी विभिन्न आन्तरालिक प्रक्रियाएँ साधक के संस्कारानुरूप कही गयी हैं। इस सन्दर्भ में सबसे पहली बात तो यह है कि जिस

'बुत' को प्रेम का आलम्बन बनाया जाता है—वह अपने समय का रूपवान् तरुण और तरुणी तो हो ही सकती है—मुरशिद (गुरु) भी हो सकता है। सन्तों की भाँति मुरशिद या पीर को यहाँ भी वहुत महत्त्व दिया गया है। बंगाल के बाउलों ने मुरशिद के विरह में बड़े ही मधुर उद्गार व्यक्त किए हैं। अलीमुराद ने भी 'कँवरावत' में कहा है—

"पहले प्रीति गुरु से कीजै।
प्रेमबाट में तब पग दीजै।"

साथ ही 'गुरु समान मैं तोहिं निहारौं' कहकर तो इस कवि और साधक ने परमात्मा को उपमेय और गुरु को उपमान कह दिया और उनका दर्जा बढ़ा दिया।

अस्तु, किसी पर भी 'प्रेम' को साधा जाए—उसके निर्वाह के लिए कुछ अन्य प्रक्रियाओं का भी निर्देश है। परम प्राप्य तक पहुँचने के लिए कुछ 'मुकामातों' और 'अवस्थाओं' को पार करना पड़ता है। सूफी साधक भी क्रमशः चार अवस्थाएँ मानते हैं—शरीअत, तरीकत, हकीकत और मारिफत। शरीअत में सलात (प्रार्थना), ज़कात (दान), सौम (उपवास), एवं हज्ज (तीर्थ-यात्रा) का समावेश है। इस्लाम-सम्मत इन बाह्याचारों को सूफियों ने उतना महत्त्व नहीं दिया है और दिया भी है तो अपने ढँग से। इस सोपान पर आरूढ़ साधक का मत यहाँ तक परिपक्व हो जाता है कि उसे मुरशिद मिल जाता है और वह प्रेम की चिनगारी सुलगा देता है। इसके बाद वह तरीकत की सीमा में आ जाता है। यहाँ वह उन तरीकों को अपनाता है जिससे विषयवासनाओं से जूझता हुआ आगे बढ़ता है। विषयवासनाओं की राशि दग्ध हुई कि निर्मल क़ल्ब पर परम ज्ञान का उदय हो जाता है। मुरीद (शिष्य) को इसके पहले कि वह ज्ञानवान् हो—कुछ मुकाम और पार करने पड़ते हैं और ये हैं सात—तोबा (अनुताप), ज़हद (स्वेच्छा गृहीत दारिद्रय), सब्र (सन्तोष), शुक्र (कृतज्ञता), रियाज़ (दमन), तव्वफ़ुल (कृपा पर पूरा विश्वास), रजा (वैराग्य) तथा मुहब्बत। इनसे साधक की मानस-मलिनता छँटती है। इन सोपानों की परिणति इश्क या मुहब्बत है—जो इसलाम के अनुयाइयों को भी अभीष्ट है। सूफी इश्क को साध्य नहीं साधन मानता है और 'फन' तथा 'वस्ल' चाहता है—अतः उसके अनुसार सात सोपान ये हैं—अवदिया (एकनिष्ठा), इश्क (प्रेम), जहद (स्वेच्छा त्याग), म्वारिफ (चारों साधनाओं से सम्पन्न), वज्द (आत्मविस्मृति), हकीक (परम ज्ञान) और वस्ल (मिलन)। इसी सन्दर्भ में वे शरीअत के उक्त रूपों के ही आधार पर अपनी अन्तर्मुखी साधना के अनुरूप निलवत (कुरान-पाठ), अवराद (नित्य प्रार्थना), जिक्र (स्मरण), फिक्र (चिन्तन), समा (कीर्तन), आदि की उद्भावना कर चुके हैं। इन सात सोपानों को पार करने पर चारों अन्य अवस्थाएँ भी प्राप्त हो जाती हैं—मारिफत, इश्क, वज्द एवं वस्ल। मारिफत परम ज्ञान है—जो उक्त प्रक्रियाओं के अपनाने से निर्मल क़ल्ब में उदित होता है। इसी का

भावावेगमय रूप इश्क है। इसकी मात्रा वृद्धि से वज्द या समाधि और फलतः वस्ल या मिलन की स्थिति आ जाती है। शरीअत, तरीकत, मारिफत एवं हकीकत के ही अनुसार नासूत, मलकूत, जगरूत एवं लाहूत-जैसे लोकों की उपलब्धि भी कही गयी है। समाधि या हाल की दशा के दो पक्ष कहे गये हैं—त्याग और प्राप्ति। त्याग के अन्तर्गत हैं—फना (आत्मभेद की विस्मृति), फ़क़द (अहंता का नाश), सुक्र (प्रेममद), प्राप्ति पक्ष में हैं—वका (परमात्मा में स्थिति), वज्द (परमात्मा की प्राप्ति), एवं शह्व (पूर्ण शान्ति)। जायसी ने "चारि बसेरे सो चढ़ै सत सो उतरै पार" से इन्हीं चार अवस्थाओं और सात सोपानों की ओर संकेत किया है।

भारतीय साधना से सम्पर्क होने के फलस्वरूप आत्मप्रतीति में सहायक नाथों एवं तान्त्रिकों की कतिपय साधनाओं और अनुभूतियों का भी उल्लेख सूफियों की रचनाओं में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। इन रचनाओं में विरही और नाथयोगी का वेष धारण किये हुए नायकों का उल्लेख मिलता है। इनमें अनहदनाद, अजपा जाप, हठयोग का प्राण निरोध, कुण्डलिनी जागरण, अमृतपान आदि साधनाओं की प्रचुर चर्चा मिलती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन इश्क की साधना करनेवाले सूफी सन्तों ने क़ल्ब की शुद्धि के अनुरूप इस्लाम के विधि-विधानों की स्वतः उद्भावित तथा गृहीत रागोत्तेजक प्रक्रियाओं एवं भारतीय साधनाओं का ग्रहण किया है। इन संस्कारानुरूप गृहीत साधनाओं का पर्यवसान इश्क की आग को उत्तरोत्तर प्रदीप्त करने में है—जिसके फलस्वरूप समस्त भेद जल जाते हैं और 'वस्ल' की स्थिति का उदय हो जाता है।

नाम साधना की दूसरी दिशा रसपर्यवसायी है—नित्य लीला की अभिव्यंजिका है। सगुण साधकों की रामाश्रयी एवं कृष्णाश्रयी धारा में भी साधन एवं साध्य को गोपनीय और गुह्य माना गया है। उपास्य सगुण परमात्मा में दो गुण हैं--परत्व एवं सौलभ्य अथवा ऐश्वर्य एवं माधुर्य। पहले गुण के अनुरूप उनका ऐश्वर्यमय रूप है और दूसरे गुण के कारण—रसमय। पहला रूप तो उतना दुर्बोध नहीं है, पर दूसरा नितान्त गूढ़ एवं दुर्गम है। इसीलिए आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने बाबा तुलसीदास को उद्धृत करते हुए कहा है—

निर्गुन रूप सुलभ अति, सगुन न जानै कोइ।
सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥

अर्थात् सगुण के दो रूप हैं—एक ऐश्वर्यमय होने से 'सुगम' और दूसरा रसमय होने से 'अगम'। यों तो उन्होंने पहले 'सगुन न जानै कोइ' कहकर 'सगुण' को भी सामान्यतः जानने से—बुद्धि से—परे का अबुद्धि-बोध्य कह दिया है—रहस्यमय मान लिया है (इसी रहस्य के जिज्ञासु रामायण के श्रोता पात्र हैं) फिर भी उसे दो रूपों में विभक्त कर रसमय रूप को ही निर्विवाद रूप से 'अगम' कहना चाहा है। यद्यपि सूरदास ने—

"निरगुन अगम विचारहिं ताते सूर सगुन लीला पद गावे।"

इन पंक्तियों में निर्गुण को ही अगम और सगुण के रसमय रूप को ही सुगम कहा है—पर इस कारण यहाँ कोई विरोध नहीं समझना चाहिए। वस्तुत: यह विरोध दृष्टि भेदवश है। एक को रसमय रूप भ्रामक होने से 'अगम' लग रहा है और दूसरे को रमण गोचरतावश 'सुगम' लग रहा है। भगवान के रसमय रूप के माधुर्यभावाश्रयी साधक अपनी उपासना को गुह्य-साधना ही कहते हैं।

मध्यकालीन सगुण भक्तिधारा में रस-साधना की धारा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। रस-साधना का विवेचन रसब्रह्म की लीला का विवेचन है, जो अप्राकृत शुद्ध सत्त्वमय जगत में चलती रहती है। रस-साधना नितान्त गुह्य एवं गोप्य साधना है। रस साधना का अभिप्राय है भक्ति को 'भाव' दशा से ऊपर 'रस दशा' तक उठा ले जाना। सच्चे रसिक वे हैं जो भक्ति को 'भाव' रूप से नहीं 'रस' रूप से आस्वादगोचर बनाते हैं। ब्रह्म स्वयं 'रसो वै स:' के अनुसार रसमय है—उसी की निजी और स्वरूपा शक्ति ह्लादिनी है—जो 'महाभाव' कही जाती है। इसी महाभाव की एक वृत्ति 'भाव' है। यह 'भाव' जीव का अपना नहीं होता, प्रत्युत भगवान् की स्वरूपा शक्ति की एक वृत्ति है। जीव इस 'भाव' से आविष्ट तब होता है—जब योग्यता प्राप्त कर लेता है। योग्यता प्राप्त कर लेने का अभिप्राय यह है कि उसने अपने स्वभाव को आवरणहीन कर लिया हो—भावमय सिद्ध देह की उपलब्धि कर ली हो। इस भावमय सिद्ध देह की उपलब्धि गुरुप्रदत्त बीज मन्त्र की साधना से सम्भव है। गुरु की उपलब्धि भगवान् की करुणा से सम्भव है और भगवान् द्रवित होता है—नामसाधना से। नामसाधना की आरम्भिक साधना कृत्रिम भक्ति है। वास्तविक भक्ति का आरम्भ भावमय देह की प्राप्ति के अनन्तर भावजगत में होता है। भावमय देह में भक्ति का 'भावात्मक' रूप प्रकट होता है। यही भाव परिपक्व दशा में 'प्रेम' कहा जाता है। यही 'प्रेम' जब 'रस' दशा में पहुँच जाता है—तो साध्य भक्ति कहा जाता है। किन्तु इस दशा तक पहुँचने के लिए भावजगत के केन्द्र स्थानीय महाभावात्मक बिन्दु की ओर इसकी विभिन्न आठ अवस्थाओं को आवर्त्तक्रम से पार करते हुए बढ़ना पड़ता है। इस महाभाव का प्राकट्य ही अन्तत: रस पर्यवसायी हो जाता है। इसी रसलीला में प्रत्येक रसिक मग्न रहना चाहता है।

इस रसिक-साधना को ऐतिहासिक क्रम में प्रस्तुत करनेवाले कतिपय समीक्षकों का विचार है कि मध्यकालीन सगुण भक्ति धारा में इस गुह्यसाधना का अपेक्षाकृत पूर्व प्रकाश कृष्णभक्ति धारा में हुआ। रामभक्ति धारा में इस साधना का आविर्भाव अपेक्षाकृत बाद में हुआ। रामभक्ति धारा में इसका प्राकट्य अग्रदास द्वारा 18वीं शताब्दी में किया गया—जब कि कृष्णभक्ति धारा में चैतन्य महाप्रभु द्वारा बहुत पहले किया जा चुका था। यों तो रस-साधना का ही प्रकारान्तर पूर्ववर्ती तांत्रिक साधनाओं में भी गुप्त रूप से स्वीकार किया जाता है। यह भी कहा जाता है कि दक्षिण में आलवारों की भी कान्ता भाव

की ही मधुर साधना थी—पर वहाँ परमात्मा के साथ साक्षात् मधुरभाव का आश्रय भक्त होता था—कृष्णाश्रयी धारा में प्राय: राधाकृष्ण के श्रृंगारदर्शन से उद्‌भूत आनंद या रस का परम्परया आश्रय भक्त (गोपीभाव, सखीभाव, मंजरीभाव) होता है—इसलिए इनकी रस-साधना का मूल स्रोत 'भागवत' माना जाना चाहिए। रामाश्रयी धारा में अग्रदास ने शठकोपाचार्य से कृष्णदास पयहारी तक बिखरे हुए अप्रकाशित साहित्य में से रसिक-साधना के अनुरूप प्राप्त कणों को एकत्र करके एक धारा प्रवर्तित की। इस धारा को पुष्ट और समृद्ध बनाने में अन्यान्य आगमों का भी सहारा लेना पड़ा है। रामावत धारा के रसिकों का वृन्दावन से भी सम्बन्ध था। इस प्रकार ये दोनों धाराएँ जिस गुह्य साधना में रसमग्न हो रही थीं—उसका सामान्यत: सैद्धान्तिक परिचय ऊपर दिया गया है।

धाराक्रम से यदि पृथक्-पृथक् इनकी रस साधना का विवरण प्रस्तुत किया जाए—तो पहले-पहल कृष्णाश्रयी धारा में इसके स्वरूप की चर्चा करनी होगी। यह ऊपर कहा जा चुका है कि भगवान के सगुण रूप के दो पक्ष हैं—ऐश्वर्यमय एवं माधुर्यमय। ऐश्वर्यमय रूप की उपासना में उपासक अपने को लघु और भगवान् को महान् मानकर दास्य-भक्ति करता है। इसकी प्रकृति के अनुरूप वैधी भक्ति ही पड़ती है। इस वैधी भक्ति का विकसित स्तर 'भाव दशा' तक ही होता है—रस दशा तक नहीं। रागात्मिका भक्ति के शांत, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य—पाँच स्तर हैं—इनमें उत्तरोत्तर रूप अपनी प्रगाढ़मयता के कारण उत्कृष्ट माना जाता है। साथ ही यह भी माना जाता है कि उत्तरोत्तर रूपों में पूर्व पूर्व के रूप में समाहित रहते हैं। रामाश्रयी एवं कृष्णाश्रयी दोनों ही धाराओं में राधा और सीता भगवान की स्वरूपभूता निजी ह्लादिनी या आह्लादिनी शक्ति हैं। स्पष्ट है कि निजी शक्ति से जितनी श्रृंगारिक तन्मयता सम्भव है—उतनी तटस्थरूपा जीवात्मक शक्तियों से नहीं। यही कारण है कि अधिकांश साधक युगललीला दर्शन से उत्पन्न श्रृंगार रस में ही मग्न होना चाहते हैं—साक्षात् सम्पर्कजन्य श्रृंगार से नहीं। अंतरंगा शक्ति के साथ श्रृंगार की अभिव्यक्ति जिस कोटि की हो सकती है—तटस्था शक्ति के सम्पर्क से निश्चय ही उस कोटि की सम्भव नहीं है। इसीलिए गोपीभाव, सखीभाव एवं मंजरीभाव से आविष्ट-साधक उस लीलारस का आस्वादन करते हैं।

इस लीलारस की साधना का आरम्भ प्राकृत देह से ही होता है—पर लीला-जगत में प्रवेश तभी हो सकता है जब उसी जगत के अनुरूप देह प्राप्त हो जाए। लीला-जगत विशुद्ध सत्त्वमय अप्राकृत जगत है—अत: उसमें प्रवेश के लिए तदनुरूप देह भी आवश्यक है। एतदर्थ साधना करनेवाले कृष्णाश्रयी सम्प्रदायों में पहले निम्बार्क सम्प्रदाय का स्थान है। इस सम्प्रदाय में उपास्य हैं—राधाकृष्ण जो परस्पर रस-विभोर हैं। इनकी उपासना साधक सखीभाव से करता है। निकुंज के रंध्रों द्वारा स्वकीया राधा से रसमग्न कृष्ण की लीलाओं

या विहार का दर्शन सखीभावापन्न उपासक करता है और स्वतः रसमग्न होता है। प्रत्येक साधक अपने इसी स्वरूप (सखीभाव) में प्रतिष्ठित होने के लिए साधना करता है—क्योंकि बिना स्वरूप में स्थित हुए वास्तविक धाम में न प्रवेश हो सकता है और न युगल रूप की सच्ची सेवा की शुरुआत हो सकती है। इस सम्प्रदाय के अनुरूप साधनक्रम का निर्देश करते हुए भी हरिव्यास देव ने कहा है कि साधना की दस सीढ़ियाँ हैं—

जाके दस पैड़ी अति दृढ़ हैं, बिन अधिकार कौन तहाँ चढ़िहैं।
पहिले रसिक जनन को सेवै, दूजी दया हृदय धरि लेवै।
तीजो धर्म सुनिष्ठा गुनि हैं, चौथी कथा अतृप्त ह्वै सुनिहैं।
पंचमि पद पंकज अनुरागै, षष्ठी रूप अधिकता पावै।।
सप्तमि प्रेम हिये विरधावै, अष्टमि रूप-ध्यान गुन गावै।
नवमि दृढ़ता निश्चय गहिवै, दशमी रस का सरिता बहिवै।

इन पंक्तियों में कहा गया है कि रसिकजन की सेवा, प्राणिमात्र के प्रति दया, साम्प्रदायिक आचार के प्रति निष्ठा, अमृतमयी कथा का अतृप्तिपूर्वक श्रवण, पद-पंकज में राग, उपास्य के रूप में रत होना, हृदय में प्रेम भाव का उदित होना, उपास्य के रूप-ध्यान तथा गुणगान, साधना में दृढ़भाव और इन सबके फलस्वरूप अंत में रस की धारा में आपदमस्तक मग्न होना—ही साधना और साधनालभ्य साध्य की दशा है। स्मरणीय है कि ऊपर जिस अष्टदलकमल और उसके केंद्रस्थ बिन्दु को आठ स्थायी भाव एवं सबको आत्मसात् करनेवाले मूल 'महाभाव' के रूप में निर्दिष्ट किया गया है—उसी के प्रतिनिधि रूप में इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने अष्ट सखी—ललिता, विशाखा, चित्रा, चम्पकलता, रंगदेवी, सुदेवी, तुंगविद्या और इंदुलेखा—का भी उल्लेख किया है। साधक उक्त साधनों से अपने लीलोपयोगी रूप (सखीभाव) को प्राप्त करना चाहता है—तदर्थ उसको भावना भी करनी पड़ती है। कहा गया है—

प्रातकाल ही उठि के धार सखी को भाव।
जाए मिलै निज रूप सौं या की यही बनाव।

इसी निजदेह (सखीभाव) को पा लेना भक्ति की भावदशा है। पर भावदशा से रस दशा तक जाने के लिए आगे भी साधना के क्रम को गतिशील रखना पड़ता है—जिसका संकेत ऊपर दिया गया है।

महाप्रभु चैतन्य प्रवर्तित धारा में भी उपास्य राधा और कृष्ण ही हैं। पर यहाँ राधा को परकीया ही माना गया है। यहाँ साधक को लीलाधाम में प्रविष्ट होने के लिए मंजरीभाव की भावना करनी पड़ती है। इस भावदेह की उपलब्धि हो जाने के बाद भाव का प्रेम या महाभाव (मोदन एवं मादन) रूप में विकास होता है—जो अंततः रसपर्यवसायी होता है।

सखीभाव एवं मंजरीभाव में थोड़ा अन्तर है। सखी का कार्य है—राधा को शृंगारोचित साजसज्जा के साथ कृष्ण के साथ रमण योग्य बना देना और मंजरी

का कार्य है सब प्रकार की संयोगानुरूप स्थितियों को उत्पन्न कर प्रिय एवं प्रिया को मिला देना अर्थात् जहाँ सखी का सम्बन्ध केवल राधा से है और उसके द्वारा कृष्ण का प्रेमपात्र बनने से, वहाँ मंजरी का सम्बन्ध दोनों से है। दूसरा अन्तर यह भी है कि मंजरी भाव में राधा की दासी होने की भावना भी रहती है। अष्टसखी की चर्चा इस सम्प्रदाय में भी है। राधा भगवान् की स्वरूपभूता अंतरंगा ह्लादिनी शक्ति है—जो महाभावरूपा है—सखियाँ जिनका अंश हैं। यही कारण है कि सखियों को राधा के सुख से ही सुख मिल जाता है। इस सम्प्रदाय में रूप-गोस्वामी तथा कृष्णदास कविराज ने भक्ति के विकास के सोपानों या साधनों का क्रम इस प्रकार निर्धारित किया है -- (1) श्रद्धा, (2) साधुसंग, (3) भजनक्रिया, (4) अनर्थ निवृत्ति, (5) निष्ठा, (6) रुचि, (7) आसक्ति, (8) रति या भाव, (9) प्रेम।

इस मार्ग के कुछ बाधक भी हैं—(1) राग, द्वेष एवं दुरभिनिवेश आदि से उत्पन्न कुछ अनर्थ दुष्कृतजात कहे जाते हैं, (2) भोग में आसक्ति रखने से उत्पन्न होनेवाले अनर्थ सुकृतजात हैं, (3) साधुनिंदा, नाम भेद मानना, शास्त्र-निंदा, नाम को समुचित महत्त्व न देना आदि अपराधजात हैं और (4) भक्ति को भौतिक सुखों का माध्यम बनाना भक्तिजात हैं। इन चार अपराधों से बचना चाहिए।

इन उपायों के परित्याग एवं उपायों के ग्रहण से भावदेह प्राप्त कर भाव-राज्य में मानसी सेवा करते हुए उत्तरोत्तर रस रूप को प्राप्त कर लेना ही साध्य है।

राधावल्लभ सम्प्रदाय में उपास्य राधा हैं। कृष्ण हैं भी तो राधावल्लभ के रूप में, कृष्ण के रूप में उपास्य नहीं। राधाकृष्ण की भी वंदनीया परम प्रेम-रूपा है। वे राधावल्लभ के साथ नित्य विहार के माध्यम से प्रेम का प्रकाश भक्तों के लिए करती हैं। इस धारा के साधकों का प्राण राधाकृष्ण के नित्य विहार से व्यंजित होनेवाला प्रेम ही है। यह प्रेम तभी रसमय है—जब वियोगगर्भ संयोग की स्थिति बनी रहे। इसीलिए यहाँ राधा में परकीया एवं स्वकीया भाव दोनों हैं। हितहरिवंशजी ने सारस और लक्ष्मण तथा चकवी एवं चकवा के संयोग एवं वियोग को एकांगी मानते हुए दोनों का समरस रूप राधाकृष्ण के 'नित्य विहार' में दिखाया है। इसी नित्यविहार के ध्यान एवं चिन्तन से सखी-भाव का उपासक उस नित्य विहार व्यंजित प्रेम रस का आस्वाद लेता है।

इस प्रेम की साधना के लिए आत्मसमर्पण, भजन, गुरुनिष्ठा, सत्संग, लीला-स्मरण, ध्यान, नामस्मरण, वृन्दावनवास आदि आवश्यक हैं। इस सम्प्रदाय में नामजप की बड़ी महिमा है।

हरिदासी सम्प्रदाय के उपास्य युगल सरकार हैं। दोनों की मधुरलीला से जिस प्रेम का प्रकाश है—वही भक्तों का प्राप्य है। राधा और कृष्ण के पारस्प-रिक श्रृंगार और सम्बन्ध को संयोग-वियोग, स्वकीया-परकीया भाव से समझाया

नहीं जा सकता है। वह सम्बन्ध जैसा है—वैसा है। उनका नित्य-विहार सभी लौकिक सम्बन्धों से ऊपर और अपने ढंग का है। इस नित्य विहार से व्यंजित प्रेम का ही लाभ इस सम्प्रदाय के सखी भाव के साधकों को अभीष्ट है। एतदर्थ इन लोगों की साधना पद्धति इस प्रकार है—

प्रथम सुनै भागौत भक्तमुख भगवत वानी।
द्वितिय अराधै भक्ति व्यास नव भाँति बखानी।
तृतिय करै गुरु समुझि दक्ष सर्वज्ञ रसीलो।
चौथे होइ विरक्त बसै बनराज यशीलो।
पाँचे भूले देहे निज छठें भावना रास की।
सातें पावे रीति रस भी स्वामी हरिदास की।

[भगवत रसिक]

वल्लभ सम्प्रदाय में पहले-पहल जिस माहात्म्यज्ञान से पूर्ण दृढ़ स्नेहवाली भक्ति का प्रचार किया गया था—वह मधुरा भक्ति नहीं थी। मधुरा भक्ति में माहात्म्यज्ञान बह जाता है। इस संप्रदाय में पहले कृष्ण के बालरूप की उपासना प्रचलित थी। परन्तु वल्लभाचार्य ने अपनी सैद्धान्तिक विवेचनाओं में मधुराभक्ति की भी चर्चा की है और उसे श्रेष्ठ भी माना है—पर उसका अधिकार या तो गोपीजन में माना है या गोपीभाव के उपासकों में। आचार्य विट्ठल के विषय में तो यह कहा जाता है कि उन्होंने बालकृष्ण की जगह किशोरकृष्ण की उपासना अपनी साधना-पद्धति में सम्मिलित कर ली। इस प्रकार उन्होंने युगलस्वरूप की उपासना और लीला का प्रचार किया।

इस धारा में भी गोपीभाव के साधक भक्तों का प्राप्य प्रेम रस ही है—जो राधा कृष्ण या गोपी कृष्ण की लीलाओं से प्राप्त होता है। इस प्रेम रस की प्राप्ति तब तक संभव नहीं है जब तक देहाध्यास है—देहात्मबोध है। अतः साधक को चाहिए कि जिस प्रकार की भावना से उसका देहात्मबोध निवृत्त हो और रास में प्रवेश कराने योग्य 'स्वरूप' का बोध हो—वही भावना करे—उसी के अनुरूप नामसाधना और गुरुभक्ति करे। क्रमशः उसमें रास-प्रवेश योग्य गोपीभावापन्न सिद्धदेह का आविर्भाव होगा और तब सच्ची सेवा और भक्ति का अवसर मिलेगा। यह भावदशापन्न भक्ति क्रमशः रस दशा तक पहुँचेगी। और साधक उसमें निमग्न हो जायगा।

इस प्रकार कृष्णाश्रयी मधुर साधना में यह सर्वत्र स्पष्ट है कि सच्ची भक्ति का उदय इस 'अभावदेह' में नहीं होता इसके लिए गुरु के निर्दिष्ट पथ से चलकर भावदेह की प्राप्ति करनी पड़ती है—जो साधक के संस्कार के अनुरूप अपनी 'स्वभावदेह' है इसी देह के अनुरूप भावजगत में चलनेवाली साधना के अनुरूप प्राप्य रसमय तत्व का रूप भी अनावृत होता है।

रामावत सम्प्रदाय के रसिक आचार्यों ने यह कहा है कि माधुर्य भाव की साधना वीतराग ही कर सकते हैं—इसीलिए इस मार्ग को अत्यन्त गोप्य और गुह्य

माना गया है। यों तो कृष्णाश्रयी धारा की भाँति यहाँ भी शान्त, दास्य, सख्य वात्सल्य एवं माधुर्य—पाँचों रसों की उपासना मान्य है। ये ही नहीं, अन्य न जाने कितने प्रकार के सम्बन्धों से भगवान की उपासना चलती है। फिर भी इन भावों में से सख्य एवं माधुर्य भाव को जितना महत्त्व मिला है—उसकी तुलना में दास्य एवं वात्सल्य को कम। शांत तो रूखे लोगों की साधना कही गई है।

इस धारा में भी साधकों का परम उद्देश्य दिव्य दम्पति का सेवासुख और युगलकेलि के लोकोत्तर रस का आस्वाद ही है। इसके लिए पारिभाषिक शब्द 'निकुंजसेवा रस', 'महलमाधुर्य' शब्द रस साहित्य में प्रचलित हैं। उपास्य के आनन्दमय रूप की अभिव्यक्ति रासलीला में ही होती है—राम के चिन्मय विलास में, रासलीला में प्रवेश पा जाना साधक का परम पुरुषार्थ है।

इसकी साधना में प्रवृत्ति भगवान की कृपा से ही संभव है और उसकी कृपा अहेतुकी है। डॉ. भगवतीप्रसाद सिंह ने इसकी साधना-पद्धति पर विस्तार से विचार करते हुए बताया है कि स्थूल रूप से रसिक-साधना उत्तरोत्तर विकसित हुई निम्नांकित चार अवस्थाओं में बाँटी जा सकती है—

1. आचार्य प्रपत्ति अथवा ज्ञानदशा
2. संबंध दीक्षा अथवा वरणदशा
3. साकेत लीला प्रवेश अथवा प्राप्तिदशा
4. लीलासुखभोग अथवा प्राप्त्युपायदशा

साधना की दिशा का निर्देशक आचार्य या गुरु होता है। साधक उस आचार्य के प्रति सर्वात्मना आत्मसमर्पण करके ही दीक्षा का अधिकारी बन पाता है। इस प्रपत्ति या शरणागति से साधक में उपास्य के प्रति अनन्य भावना का उदय होता है—फलतः वह एकनिष्ठ होकर उपास्य के नाम, रूप, लीला और धाम का चिन्तन करता है। इस प्रक्रिया से साधक में 'भाव' की उत्पत्ति होती है—जिसका आरम्भिक उद्रेक विरह के रूप में होता है। पूर्ण विरह की स्थिति को लगन कहते हैं। लगन की अंतिम भूमिका में पहुँचते-पहुँचते युगलकिशोर के विमल विहार का दर्शन होता है। लगन का ही परिणत रूप प्रीति है जिसकी दृढ़ता से महाभाव का उदय होता है। इस महाभाव का भी आरूढ़ दशा में विहारदर्शन अस्थिर और अधिरूढ़ दशा में स्थिर होता है। अधिरूढ़ दशा की भी 'मादन' नाम की स्थिति में उपासक विहार दर्शन से मस्त हो जाता है और 'उन्मादन' नाम की स्थिति में आत्मविस्मृत या दीवाना हो जाता है।

इस विहार दर्शन के बाद उसमें प्रविष्ट होने की उत्कृष्ट कामना पैदा होती है। उस दिव्य-लीला लोक में प्रवेश इस वासनामूलक प्राकृत शरीर (स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण) से संभव नहीं है—अतः एक तुरीय शरीर—अप्राकृत महाकारण या चिन्मय सिद्धदेह की कल्पना की गयी है। उसी शरीर से रस-साधना होती है। साधक का वह शरीर उपास्य के साथ गुरु द्वारा निर्धारित सम्बन्ध पर आधारित होता है। यह सम्बन्ध नाना प्रकार का है। इस सम्बन्ध का निर्धारण गुरु ही कर

सकता है—इसलिए गुरु का नितान्त महत्त्व स्वीकार किया गया है।

रामभक्तों के आराध्य युगल सरकार की लीलाभूमि साकेत है—उसी में प्रवेश पाना समस्त साधना का लक्ष्य है। रहस्यदर्शियों की भाँति ये लोग भी मानते हैं कि पहले साधनावश इस पिंड या शरीर के हृदय स्थान में जो इस दिव्य-लीला का साक्षात्कार कर लेता है—वह दिव्यलोक की अवतारी लीला का भी साक्षात्कार कर लेता है। लीला कई रूपों की है—प्रकट एवं अप्रकट, तात्त्विक एवं अतात्त्विक, अवतारी एवं अवतार आदि। इस लीला में रसास्वाद की प्रणाली संभोगात्मक होती है—जो तीन प्रकार की कही गयी है—मनस्संभोग, दृष्टि संभोग तथा साक्षात् अथवा स्पर्श-संभोग। प्रथम दो प्रकार तत्सुखीभाव के अन्तर्गत हैं—जहाँ साधक सीताजी द्वारा अनुभूति सुख को अपना सुख मानते हैं और तीसरा स्वसुखीभाव के अन्तर्गत है—जहाँ साधक रसकेलि में स्वानुभूति सुख को ही अपना सुख मानता है।

इस प्रकार आज भी पूर्वोक्त निर्गुण एवं सगुण धाराओं की रहस्य साधना चल रही है और इस साधना का जानकार कहनेवाले भी इस भूतल पर उपस्थित हैं। पर यह क्षेत्र श्रद्धा एवं विश्वास का क्षेत्र है—तर्क और भौतिक-प्रत्यक्ष का नहीं। रहस्य साधना की इस दिशा में श्रद्धा और विश्वास के होने पर ही गतिशील हो सकते हैं—जिन्हें गुरु—निर्दिष्ट मार्ग मिल गया है। यहाँ का सबकुछ केवल किसी आन्तर-संस्कार से स्वतः होता जाता है। यह सर्वथा असंभव है कि रहस्य को कोई बुद्धि-सिद्ध करके भौतिक चक्षुओं से देख ले और तब साधना के लिए गतिशील हो।

आधुनिक युग में हिन्दी-काव्य के क्षेत्र में 'रहस्य' का स्वर मुखर करनेवाले छायावादी कवियों को अध्यात्म में आस्था और विश्वास है—इसमें कोई सन्देह नहीं—पर उनकी साधना की दिशा भिन्न है। वे सूफियों की भाँति जागतिक या प्राकृतिक सौन्दर्य के माध्यम से किसी रहस्यमयी आकर्षक चेतन सत्ता की जिज्ञासा में रत हैं—उससे रागात्मक सम्बन्ध भी प्रदर्शित करना चाहते हैं—पर वह क्या और कैसा है—इस पर पीछे बहुत कुछ कहा जा चुका है। यहाँ सन्दर्भ है साधना का। ये कविगण अपने व्यक्तिगत जीवन में कैसी और क्या साधना करते हैं—यह तो एक भिन्न बात है—पर अपने साहित्य में आध्यात्मिक विकास की किस प्रकार चर्चा इन लोगों ने की है—उसका कुछ उल्लेख किया जा सकता है।

इतना तो स्पष्ट है कि ये लोग व्यक्ति-मुक्ति की अपेक्षा पीड़ित-मानवता की मुक्ति के विषय में नव जागरण की सार्वभौम चेतना का अभिन्न अंग बनकर अपने-अपने ढंग से सोच रहे हैं। काव्य के क्षेत्र में उदित होनेवाली आधुनिक सार्वभौम रहस्यवादी धारा को जो जनवादी स्वर भरनेवाला कहा जाता है—उसका कदाचित् यही रहस्य है।

'प्रसाद' और 'निराला'—दोनों ही निवृत्ति, त्याग एवं व्यष्टिहित का दम्भ

भरनेवाले उन पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय कर्त्तव्यों से विमुख होकर वैयक्तिक मुक्तिकामियों के समर्थक नहीं हैं। निराला प्रवृत्ति, ग्रहण और समष्टि-हित का नारा लेकर चलनेवाले नव्यवेदांतिक विवेकानन्द के अनुसार मानते हैं कि 'मुक्ति' का अस्तित्व बंधन से ही है—मुक्ति के लिए बंधन की सार्थकता है। यह बन्धन प्रारब्धानुसारी कर्म है। कर्म ही योग—बशर्ते कि व्यक्तिगत अर्जन-विसर्जन की भावना से ऊपर उठकर किया जाए। पर ऐसा संभव तभी है जब मानवीय हृदय में प्रेम, करुणा, शक्ति और सहानुभूति की सात्त्विक ज्योति हो। यह सात्त्विक ज्योति तभी उन्मुक्त रूप में प्रकाशित होती है—जब घृणा, विद्वेष, तथा अहं की क्षुद्र वृत्तियों से मन उन्मुक्त हो और ऐसी उन्मुक्ति के लिए सहिष्णुता एवं उचित तितिक्षा हो।

कतिपय समानताओं के बावजूद रुचिभेदवश एक में विवेकानन्द का विवेचित नव्यशांकर अद्वैतवाद का व्यावहारिक पक्ष साधन के रूप में गृहीत है—तो दूसरी ओर 'प्रसाद' में आगमिक ईश्वराद्वयवाद—फिर भी संसार को कर्मक्षेत्र बनाकर मुक्ति की ओर बढ़ने का मार्ग 'प्रसाद' भी मानते हैं। वे मानते हैं कि दुःखात्मक संसार से भागकर सीमित सुख की उपलब्धि वास्तविक आनन्द की—मोदमय भूमा की उपलब्धि नहीं है—बल्कि हृदय की रम्य विभूतियों—वेदना, करुणा, अनुभूति, तितिक्षा, सहिष्णुता आदि—के सहारे योग्यतार्जनपूर्वक आत्म-शक्ति की पहचान से दुःख को भी सुखात्मक रूप में परिणत कर आनन्द की भूमा की उपलब्धि ही मानव का लक्ष्य है।

श्रद्धा भी तो निवृत्ति एवं नैराश्य के धरातल पर प्रतिष्ठित मनु को 'पूर्णता' या 'पूर्णहंता' की उपलब्धि का पथ निर्देश करती हुई कहती है—तुम्हारे हृदय की यह निवृत्ति भावना आपात रमणीय है, केवल दुःख के डर से अज्ञात जटिलताओं का अनुमान कर 'काम' या 'प्रवृत्ति' से तुम्हें इतनी झिझक क्यों है? समस्त विश्व का उन्मीलन महाचिति का लीलामय विलास है। इस तथ्य की विस्मृतिवश ही तुम इस विश्व का तिरस्कार कर रहे हो। जिस काम-मंगल से मण्डित श्रेय-मार्ग को असफलताओं का आगार बना रहे हो। जिस वैषम्य को तुमने अभिशाप और जगत की ज्वालाओं का मूल समझा है—वह ईश का रहस्य वरदान है। वस्तुतः वैषम्य ही सृष्टि का मूल है। शिव और शक्ति की विषम स्थिति से ही विश्व का विकास हुआ है। यही वैषम्य हमें सामरस्य की ओर ले जाने का साधन है। निरालाजी ने भी यही माना है कि भ्रम के भीतर से ही भ्रम के पार जाना है। वैषम्य के ही विलास से भूमा की ओर हमें बढ़ना है। भूमा बहुत्व का बोधक है। इसी के लिए उपनिषदों में कहा गया है—'यो वै भूमा तत्सुखम्, नाल्पे वै सुखमस्ति, भूमा वैसुखम्'। भूमा सीमित सुख का तिरस्कार करता है—क्योंकि इससे उसकी सीमा संकुचित हो जाती है और सीमा ही दुःख का मूल है। अतः संसार के मूल रहस्य को—सुख-दुःख को—समान अनुभव करके दोनों को एकरस आनन्दमय रूप में गृहीत करना 'भूमा' है। निष्कर्ष यह कि व्यष्टिगत

सुख को समष्टिगत सुख में पर्यवसित करना ही वास्तविक आनन्द लाभ है। प्रसाद के उन्नयन या ऊर्ध्व संचरण का यही व्यष्टि से समष्टि की ओर—क्षुद्रता से महत्ता की ओर, अल्पता से पूर्णता की ओर प्रस्थान है। उनकी व्यक्तिगत करुणा, वेदना, प्रेम और काम-वृत्ति उत्तरोत्तर परिष्कृत होती हुई समष्टि में लीन होती गयी है। 'आँसू' की वेदना का आलम्बन व्यष्टि से समष्टि हो गया है। निष्कर्ष यह कि इस प्रकार जो वैषम्य 'भूमा' का साधन या सोपान है—उसकी उपेक्षा कैसी ? इस स्पन्दशीला शक्ति की तरंगों की तह में निष्पन्द शिव शांत, अथाह और अनन्त समुद्र-सा स्थिर और शांत पड़ा हुआ है। यदि उससे समरस होना है तो उसकी नीलाभ शक्ति तरंगों से भीत क्यों—यदि तुम्हें 'पूर्ण' होना है—तो उसके एक देश से यह वितृष्णा क्यों ? यहाँ तप नहीं, केवल जीवन सत्य है जहाँ तरल आकांक्षा से भरा आशा का आह्लाद सो रहा है। इसे सक्रिय करने से विधाता की यह कल्याणी सृष्टि इसी भूतल पर सफल होगी—वह भी तब सरस हो जायगी। इसी प्रकार 'भूमा' की ओर अग्रसर हुआ जा सकता है—जो 'रहस्य' है।

यह तो कहा ही जा चुका है कि वर्तमान-युग-चेतना का सामान्य स्वर व्यक्ति-मुक्ति की अपेक्षा समष्टि या जातीय मुक्ति की भावना का कहीं अधिक है। श्री सुमित्रानन्दन पन्त के अन्तर में भी जो युग चेतना आलोकित हुई है—उसकी दिशा भी यही है। पन्तजी अपने 'छायावाद : पुनर्मूल्यांकन' में 'जीवन-मूल्य' की अनुसंधानात्मक रेखाओं को स्पष्ट करते हुए कहा है—"मैं सर्वप्रथम स्वामी रामकृष्ण, विवेकानन्द तथा रामतीर्थ के दर्शन से प्रभावित था, पर मेरे मन ने उन्हें पूर्णतः स्वीकार नहीं किया। मैं गांधीजी तथा मार्क्स के जीवन-दर्शनों से प्रभावित हुआ, पर पूर्णतः उन्हें भी स्वीकार नहीं कर सका। मैं श्री अरविन्द के सम्पर्क में आया (क्योंकि उन्होंने मध्ययुगीन द्रष्टाओं की तरह जीवन की उपेक्षा या बहिष्कार नहीं किया) पर सम्पूर्णतः उसे भी नहीं अपना सका—इसका कारण यही था कि मुझे स्वयं ही 'पल्लव' के बाद एक स्वतन्त्र व्यापक अन्तर्दृष्टि जीवन, मन तथा आत्मा सम्बन्धी मान्यताओं को निरखने-परखने की मिल गयी थी, जिसे विश्वजीवन एवं भूजीवन की वास्तविकता की पीठ पर प्रतिष्ठित करने के लिए मुझे अकथनीय और और अश्रान्त संघर्ष करना पड़ा और जिसे भावबोध, जीवनयथार्थ, बौद्धिक प्रकाश, प्राण-रसमूल्य से सम्पन्न करने के लिए मुझे उप-र्युक्त सभी प्रभावों के साथ अन्य भी अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक, नैतिक, राज-नैतिक, आर्थिक तथा जीवशास्त्रीय प्रभावों को आत्मसात् कर अपने मूल दृष्टि-बिन्दु से बहिरन्तर संयोजित करना पड़ा—मेरे इसी जीवनमूल्य के संदर्भ को मेरी रचनाओं में वाणी मिली है।" उन्होंने 'चिदम्बरा' की भूमिका में बताया है कि भौतिक-आध्यात्मिक समन्वय तथा रूपान्तरित भू-जीवन के मूल्यों की 'ज्योत्स्ना' काल में ही नींव पड़ चुकी थी। उन्होंने अरविन्द की मुक्ति-धारणा और साधना प्रक्रिया का उल्लेख करते हुए बताया है कि किस प्रकार उनका अपना लक्ष्य

और साधन प्रकार भिन्न हैं।

उन्होंने उसी 'छायावाद : पुनर्मूल्यांकन' (पृ. 66) में कहा है—"मेरे और श्री अरविन्द के दृष्टिकोण में बहुत बड़ा अन्तर भी है। मेरी दृष्टि में अन्तश्चैतन्य तथा अन्तर्बोध की दृष्टि से भी जीवन तत्त्व का ही सर्वोपरि मूल्य है। मैं मन या चैतन्य को जीवन का एक प्रबुद्ध अंश-भर मानता हूँ और जड़ तथा चैतन्य को जीवन का बाहरी-भीतरी छिलका या स्तर-मात्र। जड़ और चेतन के तटों के बीच में बहनेवाली जीवन की अविराम अक्षयधारा को मैं दोनों का अन्तःसमन्वित सत्य ही नहीं मानता, जीवन के विकास के ही लिए उन दोनों की उपयोगिता या सार्थकता भी मानता हूँ। ××× जीवन ही अपनी अन्तः-क्षमता में सर्वशक्तिमय सर्वपूर्ण ईश्वर है जो दिक्काल के बाह्यपट में सृजन विकास की स्थिति में है और प्रबुद्ध मानव ही, जो जीवन का पूर्णतर प्रतिनिधि है—उस विकासक्रम को पृथ्वी पर चरितार्थ करने में सहायक हो सकता है।" पन्तजी मन को जीवन से बड़ा नहीं मानते—उसे वे जीवन के अंश में ठीक उसी प्रकार संचालक मानते हैं जैसे दृष्टि मानवीय शरीर की संचालिका है। अरविन्द का दृष्टिकोण भिन्न है—"उनके अनुसार मन जीवन (Life) से अधिक महत्त्व-पूर्ण, अतिमन मन से अधिक महत्त्वपूर्ण है और उनकी साधना का क्षेत्र भी जीवन और मन से अधिक अतिमन रहा है, जिसे वह सुपरमाइण्ड कहते हैं। ×× श्री अरविन्द जड़ एवं चेतन को जीवन प्रवाह के दो कूलों के रूप में नहीं मानते, वह कहते हैं—'Give me spirit, I will unreveal and then recreat the whole universe'—'चेतना के सूत्र को पकड़कर मैं सृष्टिपट को उधेड़कर फिर से बुन सकता हूँ।' ×× श्री अरविन्द जीवन को जड़ के ऊपर की एक स्थिति भी मानते हैं। उनके अनुसार, जो प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण भी है, जड़ से जीवन, जीवन से मन का विकास हुआ है और मन से अतिमन या ऋतचित्, जिसे वे सुपरमाइण्ड कहते हैं उसका विकास होगा और तभी व्यक्ति दिव्य या पूर्णतर होगा जिसे वह 'नौस्टिकवीइंग' कहते हैं। उनकी साधना-पद्धति मध्ययुगीन दृष्टि से आत्ममुक्ति सम्बन्धी न होने पर भी उस प्रकार की नहीं है, जिसे मैं सामाजिक यथार्थ के विकास के पथ से सन्तुलित विश्व-जीवन के लिए सामूहिक मुक्ति की दृष्टि कहता हूँ। ××× जागतिक जीवन के पूर्ण विकसित रूप में ही ईश्वर दर्शन या साक्षात्कार को क्रमशः संभव मानता हूँ। ×× मैं सत्य की साधना के लिए इतिहास और सभ्यता ने जो सामाजिक सामूहिक विकास यंत्र प्रस्तुत किया है उसी को अधिकृत कर, उसे राष्ट्रीयता से अन्त-र्राष्ट्रीयता में और उससे विश्वमानवता एवं दिव्यमानवता में क्रमशः विकसित कर, उस पूर्णजीवन को लोकजीवन में मूर्त देखना सम्भव मानता हूँ। अपनी इस सत्य दृष्टि को सम्पन्न बनाने के लिए मैंने अपने युग की सभी प्रकार की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक एवं वैज्ञानिक विचारधाराओं से अपने प्रयोजन के तत्त्वों को ग्रहण एवं आत्मसात् करने का प्रयत्न किया है।"

जीवन यथार्थ की जो प्रेरणा उन्हें गांधीवाद से मिली हैं उसकी सामूहिक विश्व-परिणति के लिए अपेक्षित आर्थिक पीठिका को उन्होंने समाजवादी अर्थव्यवस्था से ग्रहण किया। रागात्मिका वृत्ति के परिष्कार को उन्होंने नव-मानवता के निर्माण के लिए अनिवार्य मूल्य माना है। वे मानते हैं कि सृष्टि के मूल में जो ईश्वर या भागवत चेतना है—उसे विकास क्रम में मनुष्य के सामाजिक जीवन में मूर्त होना ही चाहिए। उनकी दृष्टि में यही भागवत साक्षात्कार है। इस प्रकार भागवत साक्षात्कार इनकी काव्य-चेतना में एक लंबी विकासशील सामाजिक प्रणाली है। इस प्रकार इनकी साधना इन्द्रिय जगत से विच्छिन्न किसी अनीन्द्रिय जगत की प्राप्ति की कोई रहस्यमयी योग साधना नहीं है। फिर भी आनुषंगिक रूप में प्रसंगोचित होने के कारण इतने विस्तार से इनका मत प्रस्तुत कर दिया गया है। यहाँ क्षुधा और रति की समस्याओं का मानवोचित भूमिका पर समाधान पाने की सामूहिक साधना है, मानव के बहिरंतर की सन्तुलित स्थिति को सामूहिक जीवन में ला देने की मानवीय-भावनाओं के विकास के आधार पर किया जानेवाला प्रयास है। एतदर्थ जिस किसी भी विचार-दर्शन की उपयोगिता जान पड़ती है—पन्तजी ने प्रकृति-विरोध से ऊपर उठकर मधुकरी संग्रह की है।

सुश्री महादेवी वर्मा ने ससीम और असीम, खण्ड और अखण्ड, बाहर और अन्तर, व्यष्टि और समष्टि के बीच सामंजस्य की साधना. प्रक्रिया पर यदि कहीं कुछ कहा भी है—तो बहुत ही संक्षिप्त रूप में। उनकी सबसे बड़ी साधना तो यही है वेदना द्वारा आत्मशोधन। वैयक्तिक वेदना को समष्टिगत रूप देकर सामंजस्य की दिशा में बढ़ना ही उनकी प्रमुख साधना है। अन्यत्र उन्होंने यह भी कहा है कि मनुष्य के अन्तर्जगत का विकास—मस्तिष्क और हृदय का परिष्कृत होते चलना है। इसके अतिरिक्त किसी विशेष धर्म, सम्प्रदाय या दर्शन की लीक से चलकर 'सत्य' की अपरोक्षानुभूति का कहीं स्पष्ट सूत्र नहीं मिलता।

इस प्रकार भारतीय आध्यात्मिक साधन धारा की दो प्रमुख शाखाएँ हैं—एक आगमिक और दूसरी नैगमिक। आध्यात्मिक साधनाएँ इतनी रहस्यात्मक ढँग से चलाई जाती हैं कि इनकी ऐतिहासिक तिथि का निर्धारण काफी कठिन ही नहीं, असम्भव है। वैदिक ऋषियों में भी तांत्रिक या आगमिक धारा की उपासना विधियों का संकेत यत्र-तत्र मिलता है। आरम्भ में बौद्ध साधना अशुद्ध वासना की निवृत्ति के लिए व्यष्टि-निर्वाणोन्मुखी आचार प्रधान साधना प्रणाली थी, बाद में 'शुद्ध वासना' या क्लेशावरण के साथ ज्ञेयावरण की भी निवृत्ति के लिए समष्टि-मुक्ति-कामना से बोधिसत्त्वयान का आविष्कार हुआ—प्रज्ञापारमिता की उपासना आरम्भ की गयी। इस साधना की सिद्धि जन्मजन्मान्तर-साध्य थी, फलतः एक ही जन्म में शून्यता या वज्रता की उपलब्धि के लिए मंत्रयान या मंत्र-साधना का तांत्रिक मार्ग ग्रहण किया गया। इस मार्ग की कृच्छ्रता से विरत होकर अन्य बौद्ध साधकों ने सहज मार्ग या ऋजु मार्ग या 'उजुवाट' द्वारा

'महासुख' की उपलब्धि की। मंत्रयान की गुह्य साधनाओं की अक्षम साधकों में बढ़ती हुई विकृतियों को देखकर वैष्णव प्रभाव में एक तरफ रागात्मक भावना-मूलक साधना का वैष्णव सहजिया साधकों में आविर्भाव हुआ और 'आरोप-साधना' चल पड़ी तो दूसरी ओर रागात्मक भावना की भी साधना से हटकर पिण्डपद सामरस्य के निमित्त नाथपंथियों में 'काय साधना' पर जोर दिया गया। बंगाल में सूफियों के सम्पर्क से वाउलों की माधुर्य साधना में 'मनेर मानुष' की ही खोज ने प्रमुखता पाई। माधुर्य भावमूलक रस-साधना की उभरती हुई रेखाओं ने भारतव्यापी प्रसार पाया। गौडीय सम्प्रदाय, पंचसखा सम्प्रदाय, आलवार आदि की साधना रस-साधना ही थी। महाराष्ट्र की वारकरी साधना का स्रोत एवं व्रज तथा साकेत को केन्द्र बनाकर मधुर रस की साधना में निरत होनेवाले रसिकों की साधना 'भागवत' से प्रेरणा ग्रहण कर रही थी। दूसरी ओर निर्गुनिए साधकों में भी भक्ति और योग की धारा क्षीर-नीर की भाँति एकरस होकर प्रवाहित हो रही थी। मध्यकालीन भक्तों की यह साधन-धारा आज भी किसी न किसी रूप में प्रवाहित हो रही है।

छायावादी कवियों ने वैचारिक-भूमिका पर 'रहस्य' की उपलब्धि के लिए व्यष्टि के साथ समष्टि की मुक्ति को भी ध्यान में रखते हुए जिन साधन-पथों की ओर निर्देश किया है, रहस्यात्मक साधना के निरूपण प्रसंग में अप्रमुख रूप से उसका भी उल्लेख कर दिया गया है।

रहस्य की अभिव्यक्ति

अविगत अकल अनूपम देख्या कहता कह्या न जाई ।
सैन करै मन ही मन रहसे गूंगे जानि मिठाई ।। —कबीर

रहस्य की काव्यात्मक अभिव्यक्ति—इस विषय पर विचार करने से पूर्व स्वतः एक प्रश्न यह खड़ा होता है कि 'काव्य' और 'रहस्य' का सम्बन्ध क्या है ? यद्यपि पूर्ववर्ती अध्यायों में इस विषय से सम्बद्ध विचार यत्र-तत्र प्रस्तुत किये गये हैं—तथापि प्रासंगिक रूप से संक्षेप में यहाँ भी कुछ कह लेना आवश्यक जान पड़ता है। यद्यपि इतना तो हम स्पष्ट देखते हैं कि जो उक्तियाँ काव्यात्मक कही जा सकती हैं—उनमें 'लोकमनोगोचर' भावों, विचारों और वस्तुओं का तो सन्निवेश रहता ही है—'अलोक मनोगोचर' तत्त्वों, अनुभूतियों और साधना प्रक्रियाओं का भी यत्र-तत्र समावेश देखा जाता है। भारतीय साहित्यशास्त्री इस विषय में अपना दो टूक मत अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं—कि जिस 'प्रतिभा' से काव्यात्मक उक्तियाँ निर्मित होती हैं—वह दो प्रकार की देखी गयी है—पहली आर्षप्रतिभा एवं दूसरी अनार्षप्रतिभा। आर्षप्रतिभा मनोलोक से परे रहस्यमय तत्त्व का साक्षात्कार करती है—उसके लिए अतीत, वर्तमान एवं भविष्य—सभी निरावृत हैं—पर अनार्ष-प्रतिभा मनोलोक के ही विषयों का जाने-अनजाने साक्षात्कार कर सकती है। कवित्व-शक्ति दोनों ही प्रकार की प्रतिभाओं में दिखाई पड़ती है। कवित्व-शक्ति का प्रकाश लोकोत्तर-अभिव्यंजना में ही लक्षित होता है। लोकोत्तर-अभिव्यंजना का कवित्व से नियत सम्बन्ध है—अर्थात् जहाँ लोकोत्तर-अभिव्यंजना है—वहाँ कवित्व है और जहाँ कवित्व है—वहाँ लोकोत्तर-अभिव्यंजना भी हो सकती है। अभिव्यंजना में लोकोत्तरत्व का उन्मेष सम्भवतः दो कारणों से होता है—काव्योचित प्रतिभा या कल्पना से तथा उस कल्पना को सक्रिय बनानेवाली सार्वभौम और निर्वैयक्तिक भूमिका पर उभरी हुई आनन्दमयी अनुभूति से। आनन्दमयी काव्यानुभूति ही कल्पना या प्रतिभा की प्रणालिका से निरर्गल प्रवाहित होती हुई काव्यात्मक-अभिव्यंजना ग्रहण करती है और ऐसी ही अभिव्यंजना मानवीय हृदय की वीणा के तारों को अनन्त काल तक झंकृत करने में मिजराब का काम करती है। इस प्रकार भारतीय आचार्य यह स्पष्ट मानते हैं कि कवि वह भी हो सकता है—जिसने साधना के बल से आर्ष चक्षुओं को उद्घाटित कर लिया है

और कवि वह भी हो सकता है, जो रहस्यदर्शी नहीं है। जो रहस्यदर्शी नहीं है—वह भी कवि हो सकता है—पर उसके काव्य से 'रहस्य' का—अमनोगोचर का —कोई सम्बन्ध हो सकता है, तो केवल जिज्ञासा के स्तर पर—अपरोक्षानुभूति के स्तर पर नहीं—क्योंकि वह है ही नहीं। इसीलिए अनार्षप्रतिभा सम्पन्न कवियों को ध्यान में रखकर धनिक ने कहा है—"न हि कवयो योगिनः··· इत्यादि" कवि योगी की भाँति हर वस्तु का चाक्षुष प्रत्यक्ष नहीं कर सकता—उसे तो कल्पना की ही वह तीसरी आँख मिलती है—जिसके कारण मानस-संस्कारों के आधार पर वस्तु का प्रत्यक्षायमाण-बिम्बात्मक रूप देखता है और इसीलिए वह एक ओर (प्रत्यक्ष न देखने के कारण) योगी से भिन्न होता है और दूसरी ओर (परोक्ष को प्रत्यक्षायमाण रूप में देखकर परोक्ष रूप में ही न देखने के कारण) सामान्य जन से अपना पृथक् महत्त्व रखता है। निष्कर्ष यह कि भारतीय आचार्यों की दृष्टि से अनार्षप्रतिभा-सम्पन्न कवि के काव्य से 'रहस्य' का सम्बन्ध यदि है—'अलोक मनोगोचर' से सम्बन्ध यदि हो सकता है—तो वह स्वाभाविक जिज्ञासा के ही स्तर पर। हाँ, आर्षप्रतिभा सम्पन्न रहस्यदर्शी की काव्यात्मक अभिव्यंजनाओं का सम्बन्ध 'अमनोगोचर रहस्य' से (अपरोक्षानुभूतिमूलक) सर्वथा सम्भव है। इस प्रकार भारतीय आचार्यों ने रहस्यदर्शी कवि और सामान्य कवि के रूप का पश्चिमी कलावादी साहित्य चिन्तकों की भाँति व्यामोहकारी मिश्रण नहीं किया है। 'प्रसाद'जी की 'असाधारण दशा' या 'संकलपात्मक अनुभूति' निश्चय ही एक व्यामोहकारी मिश्रित प्रकार की स्थिति का बोध कराती है। इनकी कवि और काव्य-मात्र के सन्दर्भ में कही हुई यह 'असाधारण दशा' कविमात्र के लिए उपयोगी होकर कवि और रहस्यदर्शी को अभिन्न कर देती है। इस 'संकलपात्मकानुभूति' की सीमा इतनी विस्तृत है कि किसी-न-किसी प्रकार उसका विषय लोक मनोगोचर और अलोक मनोगोचर—दोनों ही हो सकते हैं। इसी प्रकार महादेवी ने भी कहा है—"व्यापक अर्थ में तो यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक सौन्दर्य या प्रत्येक सामञ्जस्य की अनुभूति भी रहस्यानुभूति है। यदि एक सौन्दर्य-अंश या सामञ्जस्य-खण्ड हमारे सामने किसी व्यापक सौन्दर्य या अखण्ड सामञ्जस्य का द्वार नहीं खोल देता, तो हमारे अन्तर्जगत का उल्लास से आन्दोलित हो उठना सम्भव नहीं। इतना ही नहीं किसी कर्म के सौन्दर्य और सामञ्जस्य की अनुभूति भी रहस्यात्मक हो सकती है।" (दीपशिखा, पृ. 27, 28)। उनकी दृष्टि में मनोगोचर अनुभूतियाँ भी वैयक्तिक भूमिका में रहस्यानुभूति हैं, अमनोगोचर अनुभूतियाँ तो रहस्यमय हैं ही। कविवर निराला और पन्त ने भी अपनी रचनाओं की प्रेरणा को किसी रहस्यमय लोक से आता हुआ कहा है। पश्चिम में भी प्रेरणा-सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हुए यह कहा गया है कि प्रेरणा का स्रोत रहस्यमय है। मैं या भारतीय आचार्य यह नहीं मानता कि प्रेरणा का स्वरूप रहस्यमय नहीं है—हो रहस्यमय—पर मैं भारतीय आचार्यों के स्वर में कहना यह चाहता हूँ कि प्रेरणा

अपने स्वरूप में रहस्यमय रहकर भी अनार्ष प्रतिभासम्पन्न कवि में जिस तरह की अनुभूति और वर्ण्य को कल्पना के माध्यम से काव्याकार-परिणति दिला देती है— उसके द्वारा उभारी हुई अनुभूतियाँ और वर्ण्य-वस्तुएँ सहृदय समाज के लिए अमनोगोचर नहीं होतीं—अन्यथा आनन्दात्मक प्रतिक्रिया किस प्रकार हो सकेगी ? सहृदय-संवाद किस प्रकार हो सकेगा ? प्रेरणा रहस्यमयी होकर भी अनार्षकवियों में मनोगोचर विभूतियों को ही उभारती है—यह बात दूसरी है कि दार्शनिक दृष्टि से आत्मस्वरूप आनन्दमयांश वहाँ भी अनुस्यूत है। यह तो कोई दार्शनिक कह सकता है—इससे सभी तो सहमत नहीं हो सकते। प्रस्तुत कृति में 'रहस्य' शब्द का ग्रहण अबुद्धि-बोध्य और अमनोगोचर अर्थ के लिए ही है---इसलिए अनार्ष-कवियों के काव्य से 'रहस्य' का सम्बन्ध यदि किसी स्तर पर सम्भव है— तो वह जिज्ञासा के ही स्तर पर, न कि अपरोक्षानुभूति के स्तर पर। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जो काव्य के क्षेत्र से 'अध्यात्म' के निष्कासन की बात कही है—वह अनार्ष-कवियों की कृतियों को ही ध्यान में रख कर। वैसे जब वे यह मानते हैं कि जगत अव्यक्त ब्रह्म की अभिव्यक्ति है और काव्य उसी व्यक्त जगत की अभिव्यक्ति, अर्थात् काव्य अभिव्यक्ति की अभिव्यक्ति है—तब वे 'अव्यक्त' की सत्ता मानते हैं, पर अनार्ष कवियों की कृतियों को व्यक्त जगत और मनोगोचर अनुभूतियों से ही नियन्त्रित कर देते हैं। लेकिन मनोगोचर और व्यक्त जगत की ही अभिव्यक्ति काव्य हो सकती है—यह आत्यन्तिक सत्य नहीं है। उपनिषदों, वेदों एवं आर्ष प्रतिभासम्पन्न रहस्यदर्शियों की कृतियों में व्यक्त अमनोगोचर अनुभूतियाँ भी काव्यात्मक परिधान में उतरती हुई दिखाई पड़ती हैं—क्या उन्हें केवल इसलिए अकाव्य कह दिया जाए कि उनका वर्ण्य मनोमयकोष से परे का है ? मैं मानता हूँ कि रहस्यदर्शियों के हर उद्‌गार काव्य नहीं हैं—पर जहाँ सच्ची और तीव्र अनुभूति तथा कल्पना की बारीकियाँ सक्रिय हैं—वहाँ की लोकोत्तर अभिव्यंजना को अकाव्य कहना स्वतः हृदयहीनता नहीं है ?

इस प्रकार इस समूचे विचार-विमर्श से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचना चाहता हूँ कि अनार्ष-कवियों की कृतियों से मेरे परिभाषित अर्थ में 'रहस्य' का केवल जिज्ञासा के स्तर पर और आर्ष या रहस्यदर्शी कवियों में भावना के स्तर पर भी प्रकाशन होता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में रहस्यदर्शी कवियों की काव्यात्मक अभिव्यक्तियों पर ही विचार किया जाएगा। प्रसंगवश जो लोग रहस्यदर्शी होने का स्वाँग भरते हैं—या वे स्वयं चाहे न भी भरते हों, किन्तु लोग समझते हों—उनकी काव्यात्मक उक्तियों का भी प्रसंगतः विचार किया जायेगा।

सभी रहस्यदर्शियों ने एकस्वर और एकमत से इस तथ्य को स्वीकार किया है कि 'रहस्य' और उसकी अनुभूति अनिर्वचनीय है—वह अबुद्धि-बोध्य और अवाङ्मनोगोचर है। यह तो सर्वसामान्य अनुभव है कि हर व्यक्ति अपनी बुद्धि और मन में भी उदित होनेवाले भावों और विचारों को अपनी वैयक्तिकता में समाजस्वीकृत और समाजोपयोगी भाषा के माध्यम से ज्यों का त्यों दूसरों तक

नहीं पहुँचा सकता—फिर जो अमनोगोचर और अबुद्धि-बोध्य है—उसे वाणी का विषय बना सकना कितना असम्भव कार्य है। इसीलिए सच्चा कवि 'सहृदय-संवाद' में बाधक बननेवाली वैयक्तिकताओं से (सार्वभौम-विशेषताओं से सम्पन्न प्रेरणा द्वारा) स्वतः ऊपर उठ जाता है और सहृदय मात्र की मनोगोचर भावना को कल्पना के माध्यम से काव्य का आकार प्रदान करता है। रहस्यदर्शी की मनोमयकोष से परे की रहस्यानुभूति में भी समस्त वैयक्तिकता भस्मसात् हो गई होती है—यह भावना तो और भी निर्वैयक्तिक होती है—किन्तु इसका सर्वसामान्य के प्रति प्रेषणीय होना सम्भव नहीं है—इसीलिए ऐसे उद्‌गार प्रेषणीय बनाए जाने की अपेक्षा कहीं अधिक 'स्वान्तः सुखाय' निर्मित होते हैं। इसीलिए अनिर्वचनीय होकर भी 'वचनीय' बताये जाते हैं क्योंकि उससे तुष्ट होनेवाली स्वान्तः सुख की प्रेरणा दुर्दमनीय है। रहस्यदर्शी के सजग प्रयत्नों के बिना भी उसकी अनुभूति व्यक्त एवं अव्यक्त नाद का रूप धारण करके अभिव्यक्त होने लगती है।

रहस्यदर्शियों की रचनाएँ 'स्वान्तः सुखाय' तो निर्मित होती ही हैं—'प्रेषणीयता' के उद्देश्य से भी लिखी जाती हैं—कभी-कभी तो स्वान्तः सुखाय और प्रेषणीयता की काव्यमयी भूमिका से और नीचे तथा स्थूल धरातल पर उतरकर व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से प्रचार की भूमिका भी ग्रहण करती हुई दृष्टिगोचर होती हैं।

उक्तियों का विषय जितना ही अमूर्त्त और सूक्ष्म होगा—भाषा भी उतनी ही सांकेतिक और प्रतीकात्मक होगी। भाषा अपनी चरम सीमा में जब सांकेतिक हो जाती है—तब 'प्रतीकात्मक' हो जाती है। भारतीय दृष्टि से कहा जाये तो यही कहा जा सकता है कि भाषा का चरम-सामर्थ्य 'ध्वनन' या 'व्यंजन' है। प्रतीकों में गोपन और प्रकाशन की क्षमता एक साथ रहती है—फलतः मौन और वाणी के सम्मिलित कार्य से दोहरे अर्थ की अभिव्यंजना सम्भव होती है। प्रतीक ही वे माध्यम हैं जो स्वयं गोचर और मूर्त्त होते हुए अगोचर और अमूर्त्त तक अनुभव करा देने में समर्थ होते हैं। अगोचर और अमूर्त्त भाव शब्दों के अभिधेय नहीं हो सकते—इसलिए शब्द का अभिधात्मक-सामर्थ्य उसके लिए उपयोगी नहीं होता। लक्ष्यार्थ भी अन्वितार्थ या वाक्यार्थ बोधोपयोगी ही होता है—फलतः लक्षणात्मक सामर्थ्य भी भावनाओं तक पाठक या भोक्ता को पहुँचाने में अशक्त होती है। यह तो केवल व्यंजना या प्रकाशन शक्ति ही है—जो अमूर्त्त भावनाओं और अनन्तानन्त संकेतित तथ्यों का अनुरंजनात्मक ढंग से इंगित कर सकती है। जो लोग व्यंजना की क्षमता और संकेत को सीमित समझते हैं—संभव है, वे भारतीय साहित्यशास्त्र में विवेचित इसकी शक्ति की महत्ता से अपरिचित हों। भारतीयों की दार्शनिक दृष्टि ने तो 'व्यक्ति' या अभिव्यंजना को 'भग्नावरण चित्' तक कहा है—जिसके कारण स्वयं आत्मा की आनन्दमयता अनुभूतिगोचर होती है—समस्त संसार प्रकाशित हो रहा है। अस्तु, तो कहना यह है कि यह

व्यंजनाशक्ति केवल शब्द की शक्ति के रूप में शब्दों द्वारा व्यंजित होनेवाली विशेषताओं, सूक्ष्मताओं और भावनाओं को वहाँ तक प्रकाशित करती है—जहाँ तक ग्राहक का सामर्थ्य है। व्यंजना स्वत: सीमाहीन है, क्योंकि वह सीमाहीन तक का प्रकाशन करती है—पर यह ग्राहक की शक्ति और क्षमता के अनुरूप ही उपयोगी हो पाती है। इसीलिए व्यंजना को सक्रिय होने में जहाँ अनेक वक्ता, बोद्धव्य, वाक्य, वाच्य आदि का वैशिष्ट्य अपेक्षित बताया गया है –वहाँ प्रतिभा-वैशिष्ट्य को भी सहायक कहा गया है। व्यंजना के सामर्थ्य का चमत्कार प्रतिभावानों को ही अनुभूत होता है। रहस्यदर्शियों के प्रतीकों और शब्दों के व्यंजनात्मक सामर्थ्य की थाह रहस्यदर्शी ही पा सकते हैं—सामान्य पाठक या सहृदय पाठक अपनी क्षमता के अनुरूप एक सीमा तक ही उसका आस्वाद प्राप्त कर सकते हैं।

रहस्य की साधना द्वारा उसका साक्षात्कार करनेवाला रहस्यदर्शी साधन वेला की व्याकुलता और वेदना तथा मिलन की रसवर्षा की अभिव्यक्ति प्राय: पति एवं पत्नी के वियोग एवं संयोग के प्रतीक से व्यक्त करता है। औपनिषद रहस्यदर्शियों ने ब्रह्मानुभूति की आनन्दमयता की उपमा जायासंपरिष्वक्त व्यक्ति की अनुभूति से ही दी है। कहा है—"तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न वाह्य किंचन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुष: प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्त: न वाह्यं-किंचनवेदनान्तरं···।" (वृहदा. 4।2।21) देश, विदेश के प्राचीन और अर्वाचीन रहस्यदर्शियों ने इसी प्रतीक के माध्यम से उस तन्मयावस्था, संयोगज एवं वियोगज अनुभूतियों की अभिव्यक्ति की है।

तांत्रिक धारा तो मुख्यत: गोपनात्मक पद्धति में आस्था रखती है—फलत: रागात्मक मार्ग से प्राप्त चरम-स्थिति की सामरस्य दशा का निरूपण स्त्री एवं पुरुष की एकरस मिलन दशा के माध्यम से व्यक्त ही करती है। बौद्ध सिद्धों का 'युगनद्ध' इसी महासुख की प्रतीकात्मक दशा है। बौद्ध सिद्ध उष्णीषचक्र में 'निरामणि' नामक स्वकीय गृहिणी से संयोग का सुख प्राप्त करते हैं। ये सिद्ध प्राय: स्वकीया और कभी-कभी परकीया रूप से संकेतित सहज-प्रज्ञा का डोंबी, चाण्डाली आदि प्रतीकों से आह्वान करते हैं और सुरतवीर का उल्लास तथा नर्तन वर्णित करते हैं। इस प्रकार चर्यापदों में ये सिद्धगण प्राय: 'महासुख' के लिए गृहीत प्रज्ञोपायात्मक योग प्रणाली को दाम्पत्य-प्रणय के रूपकों में अनेकश: और अनेकत्र अभिव्यक्ति देते हुए दिखायी पड़ते हैं। चर्यापदों या गीतियों में जो इनका भाव-पक्ष व्यक्त हुआ है—वह 'महाराग' है। यह महाराग सम्बोधि प्राप्त चित्त का ही भाव है—जिसे महामुद्रात्मक तरुणी के प्रति प्रज्ज्वलित किया जाता था। प्रज्ञामयी भगवती महामुद्रा भी साधक के प्रति वैसे ही राग रखती है—जैसे साधक उसके प्रति। स्मरणीय इतना ही है कि यहाँ साधक अपने को पुरुष रूप में और 'निरामणि' को स्त्री रूप में रूपित करता है। पर सिद्धों ने सदैव परतत्त्व को स्त्री रूप में ही रूपित किया हो—यह नियमत: नहीं कहा जा सकता। सरहपा

की इस रचना में देखें—

अक्खह अच्चेय परमं पहु खसम महासुह नाह ।
जो आवाअ अचित्त वि तस्स च्चक्खु करेह ॥

यहाँ उस परमप्राप्य को अक्षय, अचिन्त्य, परमप्रभु तथा महासुखनाथ के रूप में स्मरण किया गया है ।

नाथ सम्प्रदाय की बानियों में कहीं-कहीं इस प्रतीक का संकेत मिलता है । यह संकेत खासकर वहाँ मिलता है जहाँ देह के अन्दर योगिनी या शक्ति से संगम लाभ करने की योगपद्धति का उल्लेख है । शैवपरम्परा के ये नाथ योगी शिव शक्ति के मिलन-जन्य सामरस्य सुख को योगी और योगिनी के संयोग सुख से रूपित करते हुए दिखायी पड़ते हैं जैसे—

"माहरा रे वैरागी जोगी, अहनिसि भोगी, जोगिणि संग न छाड़ै ।"

आदि । फिर भी आपेक्षिक दृष्टि से कायसिद्धि को योग-पद्धति के मुखर होने से रागोद्‌गार का सिद्धोंवाला धारावाहिक रूप यहाँ नहीं मिलता । होना भी चाहिए यही, क्योंकि रागमार्ग की अति की विकृति से विरक्त होकर ही गोरखनाथ ने योगिनी-कौल-मार्गी मत्स्येन्द्रनाथ से अपना कायसाधनात्मक योग प्रधान मार्ग पृथक् कर लिया था ।

परवर्ती मध्यदेशीय साधना की सगुण एवं निर्गुण धाराओं में इस पति-पत्नी के प्रतीक का प्रयोग काव्यात्मक भूमिका पर द्रष्टव्य है । निर्गुणधारा में तो 'पति-पत्नी' भाव प्रतीक रूप में ही प्रयुक्त हुआ है—इतना अन्तर अवश्य है कि जहाँ सिद्धों में साधक प्राय: अपने को पति या पुरुष रूप में निर्दिष्ट करते हैं—वहाँ हिन्दी के मध्यदेशीय निर्गुनिए अपने को ही पत्नी रूप में और प्राप्य 'राम' को भर्तार के रूप में उल्लिखित करते हैं । सूफियों में प्राय: विपरीत क्रम मिलता है । सगुण उपासकों में जो 'रस-साधना' वाले हैं—उनके यहाँ यह उपासक एवं उपास्य के बीच स्त्री-पुरुष-भाव का सम्बन्ध किसी दृष्टि से प्रतीकात्मक है और किसी दृष्टि से वास्तविक भी है । प्राकृत-शरीर की दृष्टि से हम प्रतीकात्मक कह सकते हैं—परन्तु 'भावशरीर' या 'स्वरूप' की दृष्टि से उसे ही वास्तविक कह सकते हैं । कान्ता भाव, गोपी भाव, सखी भाव या मंजरी भाव से रस की साधना करनेवाले सगुणसाधक साधना से इस स्त्री-रूप के निजदेह की उपलब्धि कर लेने पर ही 'रस' का अनुभव करते हैं । कहने का मतलब यह है कि रहस्यमार्ग में स्त्री-पुरूष का प्रतीक आगे चलकर स्वयं ही वास्तविक हो गया ।

सन्तों के साहित्य में विरह का स्वर बड़ा ही तीव्र और मार्मिक है । ऐसी उक्तियाँ स्वयं ही काव्य बन गयी हैं । उदाहरण के लिए इन पंक्तियों को लें—

यहु तन जालौं मसि करूँ, ज्यूँ धूवाँ जाइ सरग्गि ।
मति वै राम दया करैं, बरसि बुझावै अग्गि ॥
यह तन जालौं मसि करूँ, लिखौं राम का नाउँ ।
लेखणि करूँ करंक की, लिखि लिखि राम पठाउँ ॥

पुरुष एवं स्त्री के बीच के रागात्मक सम्बन्ध के वियोगपक्ष का ही नहीं, संयोग-पक्ष का भी सहारा आध्यात्मिक मिलन की अभिव्यक्ति के लिए स्वीकृत हुआ है—

कबीर तेज अनन्त का मानौ ऊगी सूरज सेणि।
पति संग जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा तेणि।

अथवा— हरि संगति सीतल भया, मिटी मोह की ताप।
निस वासुरि सुख निध्य लह्या जब अंतरि प्रगट्या आप।

इस प्रकार जहाँ भी विविध लौकिक सम्बन्धों के माध्यम से भावाभिव्यक्ति हुई है—वे अंश निश्चय ही काव्यात्मक बन गये हैं। आध्यात्मिक रस-धारा को अन्य प्रतीकों से भी अभिव्यक्ति दी गयी है। देखिए—

गगन घटा घहरानी साधो गगनघटा घहरानी।
पूरब दिसि से उठी है बदरिया रिमझिम बरसत पानी।
आपन आपन मेंड़ सम्हारो, बह्यौ जात यह पानी।
सुरत निरत का बैल नहायन, करै खेत निर्वानी।।
धान काट मार घर आवै, सोई कुशल किसानी।
दोनों थार बराबर परसैं, जेवैं मुनि और ज्ञानी।।

सन्तों ने ही आध्यात्मिक तृप्ति और अतृप्ति को दाम्पत्य प्रणय के संयोग एवं वियोग जैसे दोनों पार्श्वों को प्रतीक बनाकर अभिव्यक्ति प्रदान की—सो बात नहीं, सूफियों का साहित्य भी श्रृंगार के इन्हीं दोनों पक्षों से आपूरित है। सन्तों ने तो परमातमा के साथ पति के अतिरिक्त स्वामी, माता एवं पिता का भी सम्बन्ध कहा है, पर सूफियों के यहाँ तो एकमात्र आशिक और माशूक का ही—पति और पत्नी का ही—सम्बन्ध गृहीत हुआ है। वहाँ भी सन्तों में यदि परमातमा का प्रतीकत्व 'पति' करता है तो यहाँ 'पत्नी'। सन्त अपने और परमातमा के बीच 'जगत' को लाना नहीं चाहते तो सूफी जगत और 'बुत' के माध्यम से ही प्रेम का दिव्यीकरण करते हैं। कबीर आदि सन्तों का आदर्श जहाँ सती और सूरमा कहीं अधिक हैं वहाँ सूफियों में पतंग, दीपक, राग हरिण, कमल भँवर, कमल सूर्य, लौह पारस आदि। इन भेदक रेखाओं का कारण बहुत कुछ परम्परा भेद भी है। सूफियाना इश्क-साधना अपना मूल स्रोत चाहे जहाँ रखती हो, पर फली फूली है उस धरती पर जहाँ प्रेम के क्षेत्र में नायिका की अपेक्षा नायक की ओर से रोमाञ्चक प्रयास होता है, जहाँ के लोगों ने एकमात्र इश्क की आग को ही समस्त भेदों को, राग-द्वेष जैसे हार्दिक मलों को जलाकर ख़ाक कर देनेवाला समझा था, जहाँ के लोगों ने 'क़ल्ब' को अभौतिक वस्तु माना था और उसके मल को ख़ाक कर दिव्य माध्यम बनाया था। सन्तों और सूफियों की उक्त भेदक रेखाओं का दूसरा परम्परामूलक भेदहेतु यह भी था कि जहाँ सन्तों का दृष्टिकोण जगत और जागतिक सुन्दर मूर्तियों के प्रति विरागात्मक था, विवर्तवादी था—वहाँ सूफियों की दृष्टि रागमयी और प्रतिबिम्बवादी थी। एक जगत को अल्लाह के नूर का दर्पण मानता था और उसी

रास्ते आगे बढ़ता था जबकि दूसरा इन सबको बाधक, हेय, वीभत्स और मिथ्या समझता था। परम्पराभेद का प्रभाव यहीं तक नहीं था—संयोग और वियोग की व्यंजनाओं तक फैला हुआ है। सूफियों में सन्तों की अपेक्षा संयोग के मांसल चित्र भी मिलते हैं—क्योंकि वहाँ नायक और नायिका का उन्मदिष्णु संयोग शृंगार वर्णित है—पर सन्तों के साहित्य में वह स्थूलता संभव नहीं हुई। इस सन्दर्भ में यह स्मरणीय बात है कि लौकिक भूमिका पर 'राग' को निर्लिप्त दोनों ही रखना चाहते हैं।

जीव और जगत को विरह-व्यंजना का माध्यम बनाने के कारण मुक्तक दोहों की अपेक्षा प्रबन्ध जैसे काव्य रूप को ग्रहण करने के कारण सूफियों ने विप्रलंभ की जो धारावाही और व्यापक व्यंजना की है, 'उन्मादी' विरही को जड़-चेतन, पशु-पक्षी, मानव-अमानव की भेदमयी भूमिका से ऊपर उठाकर सर्वत्र समान रूप से परिव्याप्त जिस रागात्मक सूत्र की एकता की गम्भीर विवृति प्रस्तुत की है—वह वैविध्य और व्यापकता सन्तों के साहित्य में नहीं है। यह अवश्य है कि सन्तों की भी तड़प और तलफन की काष्ठापन्न कौंध मुक्तकों में भी पूरी तरह उभरकर आयी है और उनके समूचे साहित्य में यही स्वर सबल और मुखर है—पर उक्त कारणों से जो अनिवार्य अन्तर सम्भव है – वह तो है ही। विदेशी और स्वदेशी परम्परा का एक दूसरा प्रभाव भी इनकी विरह व्यंजनाओं में जो लक्षित हुआ है वह यह कि सूफियों में वीभत्सता की रेखाएँ भी कहीं-कहीं मुखर हो जाती हैं जब कि सन्तों में नहीं। यह बात समान रूप से दोनों में पाई जाती है कि प्रेम का रण-प्रांगण आत्म-बलिदानी के लिए ही मुक्त है – यहाँ विलासियों का प्रवेश नहीं है। यह समझना भी एकदम ठीक नहीं है कि सूफियों की दृष्टि विरहोद्दीपन के क्षेत्र जिस भावुक कल्पना से संवलित होकर बारहमासा और षड् ऋतु वर्णनों में प्रकृति के मनोहर और आकर्षक व्यापारों का चित्र दे पायी है—वह सन्तों में सर्वथा नहीं है; नहीं है, पर दो अंतरों के साथ। एक तो यह कि सूफियों के प्रबन्ध की अपेक्षा इनके मुक्तकों में उनकी मात्रागत कमी है और दूसरे यह कि इनके प्रयोग की विधि भी दूसरी है। कबीर की वियोगमयी मनोवृत्ति जब कहती है—

काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी
तेरे ही नालि सरोवर पानी——

तो वे जीव और जगत को भी विरह-व्यंजना के लिए लाते हैं—पर वेदान्त-सम्मत-आविद्यिक-दृष्टि को साथ रखते हैं, जीव और जगत के द्वारा साक्षात् राग-वृद्धि की बात न कर विरागोत्तेजन द्वारा राम के प्रति राग-वृद्धि की चर्चा करते हैं।

यहीं प्रसंगतः एक बात और विचारणीय है कि पति एवं पत्नी के लौकिक प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्ति पानेवाला सूफियों का प्रेमपूरित आध्यात्मिक-हृदय क्या आत्माभिव्यक्ति और प्रेषणीयता की काव्योचित भूमियों को लाँघकर

'प्रचार' के रेतीले टीलों को भी छूता है—फलतः क्या काव्यात्मकता में कोई क्षति भी आई है ? निश्चय ही सूफियों की रचनाओं के पीछे 'आत्माभिव्यक्ति' और 'प्रेषणीयता' के साथ 'प्रचार' की भी भावना है। वैसे शब्दतः 'प्रचार' की घोषणा नहीं है—पर इसका संकेत देनेवाले तथ्य अनेक हैं। यह तो स्पष्ट है कि सूफियों ने अपने को इस्लाम का ही अनुधावी कहा है। सूफियों और सन्तों का समस्त साहित्य प्रायः उस कालखण्ड में लिखा गया है जब इस्लामी और भारतीय संस्कृति इस अजनबी रूप में आमने-सामने खड़ी थी कि एक के मुख से प्रचारकामी नृशंस रक्तलिप्सा की जिह्वा लपलपा रही थी और दूसरी आनत-काय और विवश खड़ी थी। इस संघर्ष की शान्ति के लिए सूफियों और सन्तों—दोनों ने कुछ न कुछ कहा। परन्तु सूफी इस्लाम का सम्मान करते थे—अतः उन्हें जो सुरक्षा प्राप्त थी—सन्तों को नहीं हो सकी। इसीलिए जो मजहबी सुलतान सन्तों को जंजीर में बाँधकर गंगा की प्रखर धारा और अतल-गहराइयों में निर्ममतापूर्वक छोड़ देते थे—उन्हीं सुलतानों को ये सूफी 'दीन की थूनी' कहते थे और 'शाहेवक्त' के रूप में उनकी प्रशंसा करते थे। जिसकी प्यास शाहेवक्त को थी—उसका प्रचार सूफी अपने साहित्य से करते थे—पर ढंग उनका मधुर था—काव्यात्मक था, तीखा और कर्कश नहीं। जायसी की इन पंक्तियों में इस्लाम का ही स्वर मुखर है—

"तेहि महँ पंथ कहौं भल गाई। जेहि दूनो जग छाज बड़ाई।
सो बड़ पंथ मुहम्मद केरा। है निरमल कविलास बसेरा।।"

उन्होंने कहा है कि यद्यपि संस्कार-भेदवश साधनाओं की कोई सीमा नहीं है—तथा जिससे लोक-परलोक दोनों आभामण्डित हो सकते हैं—वह पंथ है मुहम्मद प्रवर्तित इस्लाम। प्रचार-भावना के कारण ही हिन्दुओं के लोक-जीवन में प्रविष्ट होकर उनके मन को रमानेवाली राजकथाओं, रहन-सहन, रुचि-विश्वास, साधना-भजन तथा अन्यविध जानकारियों का काव्यघातक 'मेरावा' सूफी साहित्य में मिलता है। प्रचार भावना के ही कारण वर्णनों का अनावश्यक विस्तार, अवसर-अनवसर कथा-धारा के बीच सूफी प्रेम-सिद्धान्त और अल्लाह के नूर को संकेतित करने की प्रवृत्ति इनके साहित्य में परिलक्षित होती है—फलतः अनेकशः काव्य की सहज धारा को अवरुद्ध और शिथिल होना पड़ा है। प्रचार की भावना सन्तों में भी है—पर उनका प्रचार 'सत्य' का निश्छल प्रचार है। उनका सारा साहित्य प्रचार-गर्भ नहीं है। संयोग एवं वियोग की जो फुहारें सन्त साहित्य में हैं—वे विशुद्ध रूप से स्वान्तःसुखाय या अधिक से अधिक 'प्रेषणीयता' की दृष्टि से निर्मित हैं, 'प्रचार' की दृष्टि से नहीं। प्रचार की दृष्टि से उनके द्वारा 'नीति-साहित्य' या 'उपदेशपरक साहित्य' की अवश्य सृष्टि है। सन्तों की उलटबाँसियों में 'प्रचार' की सम्भावना ही नहीं है—क्योंकि उन उलटबाँसियों में तो 'गोपन' की प्रवृत्ति निहित है—समझने को चुनौती वहाँ दी गयी है। यह बात दूसरी है कि कहीं वह 'गोपन' विवशता का परिणाम है और कहीं जान-बूझकर है। इस प्रकार पति और पत्नी की प्रेमगाथाओं के प्रतीक रूप में सृष्ट

समूचा सूफी साहित्य 'प्रचार' की दृष्टि से लिखे जाने पर भी सन्तों के समूचे साहित्य की तुलना में निश्चय ही अधिक काव्यात्मक है—यद्यपि इस प्रचार-भावना के कारण इनकी काव्यात्मकता पर कहीं-कहीं आँच भी आयी है। सूफियों की रचनाओं में प्रचार-भावना के बावजूद जो काव्यात्मकता इतनी उभर कर आयी—उसके कई कारण हैं। पहला कारण तो यही है कि इन लोगों ने प्रचार का माध्यम तर्क एवं खण्डन से कर्कश नीरस उपदेश का सन्तोंवाला मार्ग नहीं पकड़ा, प्रत्युत कान्तासम्मित काव्योक्ति का माध्यम गृहीत किया, काव्य के लिए सरस कथानक चुना और उसे रस, अलंकार, छन्द तथा प्रचलित भाषा की मिठास से आपाद मस्तक सिक्त किया। दूसरे सूफियों का हृदय प्रेम की मधुर पीर से इतना ओतप्रोत होता था कि उसका सहज उच्छलन ही काव्य का आकार बन गया। संयोग एवं वियोग की विविध तरंगों से भरी हुई सूफियों की अभिव्यक्ति सहज ही सरस काव्य बन गयी है। तीसरी बात यह भी है कि सन्तों का सरस-काव्य आध्यात्मिक रस से सीधा पूरित हुआ है और सूफियों का लोक-शृंगार के ब्यौरों से—अतः सामान्य सहृदय समाज को सूफियों का काव्य अधिक आस्वाद्य भी बन गया है।

सगुण धारा के अन्तर्गत 'रस-साधना' वाले भक्तों की भावमयी अभिव्यक्तियों का माध्यम भी काव्य है—पर सूफियों की भाँति उसमें 'प्रचार' की व्यक्त भावना नहीं है—इसीलिए किसी प्रकार के खण्डन-मण्डन की स्थूल भूमिकाओं की रचनाएँ इन लोगों में नहीं मिलतीं। इनकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति का विषय लीलागान ही है—अतः युगलकिशोर का रूप-वर्णन और उनका पारस्परिक शृंगार-वर्णन या अपने सिद्धान्त की बातें निरूपित हुई मिलती हैं। यहाँ पति-पत्नीभाव, सखीभाव, मञ्जरीभाव या गोपीभाव प्रतीक नहीं है—भाव देह की सिद्धि हो जाने पर वह वास्तविक है—अतः प्रतीक पद्धति द्वारा प्राप्त रहस्यमयता नहीं है—न तो रहस्यमयी अटपटी अनुभूतियों और साधनाओं की अभिव्यक्ति के लिए किसी संध्याभाषा या उलटबाँसी का ही प्रयोग है। उदाहरण के लिए कृष्ण-धारा और रामधारा के रसिक साधकों की कतिपय पंक्तियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं।

राधावल्लभ-सम्प्रदाय के श्री नेही नागरीदास की पंक्तियाँ हैं—

ऋतु बसन्त फूलत बनराजि।
ललित लता मिलि अंग तरंगनि भाँति-भाँति तरु सभा समाजी।
मधुप मोर चातक कोकिल कुल मनहर मदन मंडली साजी।
कौतिक कुशल केल कानन कुँवरि तब नागरीदास संग सुख काजी।

रामभक्ति शाखा के युगलानन्यशरण की 'श्री युगलविनोद विलास' की पंक्तियाँ हैं—

जल जातकर उच्छरित जल जलजात फेंकहिं अलि चली।
तेहि संग भ्रमर उड़ाहिं गुंजत देखि कवि शारद नभी।

जनु पूर शशि टूटहिं विथकि अहिवाल तेहि रस लूटहीं।
जनु स्वरन सम्पुट वेष्टि रस अलि-अलि चपरिलै जूटहिं।
प्रभु लेत पुनि फेंकत लगत जनु अमिय घट भरि फूटहिं।
जिमि रामचरण हवाइ सियपुर कामरति कर छूटहिं॥

[जलकेलि]

इस प्रकार रसिक-धारा की रचनाएँ ऐसी ही काव्यमयी लीलापरक उक्तियों से भरी हुई हैं—जिनकी भाषा प्राञ्जल, कल्पना निर्मल और अलंकार रीति तथा वृत्तियाँ अनुरूप हैं।

चिन्तन प्रसूत अद्वैत की कल्पनाधारित भावना को विषय बनाकर जो रहस्यवादी रचनाएँ छायावादी कवियों द्वारा प्रयुक्त की गयी हैं—उनमें भी श्रृंगार की प्रणयलीला और विरहलीला के अप्रस्तुतों और प्रतीकों द्वारा काव्यात्मक भावाभिव्यक्ति का उच्छ्वास लक्षित होता है। महादेवी ने स्पष्ट कहा ही है कि प्रकृति की अनेकरूपता पर एक मधुरतम व्यक्तित्व का आरोप कर उसके प्रति आत्मनिवेदन करना रहस्यवाद का दूसरा सोपान है। उनके अनुसार सभी खण्डशः अनुभूतियों के पीछे अन्तर्जगत में एक ऐसा व्यापक, अखण्ड और संवेदनात्मक धरातल भी है जिस पर सारी विविधताएँ ठहर सकती हैं। काव्य इसी को स्पर्श कर संवेदनीयता प्राप्त करता है। उनके अनुसार व्यापक अर्थ में प्रत्येक सौन्दर्य या सामञ्जस्य की अनुभूति भी रहस्यानुभूति है। यदि एक सौन्दर्य अंश या सामञ्जस्य खण्ड कवि और सहृदय के समक्ष किसी व्यापक सौन्दर्य या अखण्ड सामञ्जस्य का द्वार नहीं खोल देता है तो अन्तर्जगत का उल्लसित होना असम्भव है। वे स्वयं मानती हैं कि रहस्यानुभूति में बुद्धि का ज्ञेय ही हृदय का प्रेय हो जाता है। ये कहती हैं कि हृदय के अनेक रागात्मक सम्बन्धों में माधुर्य भावमूलक प्रेम ही सीमा से असीम के सामञ्जस्य में उपयोगी होता है और इनके गीतों में यही माधुर्यभाव प्रेरणा का काम करता रहा है।

इन्होंने बताया है कि माधुर्यभावमूलक उद्‌गार निर्गुनिए रहस्यदर्शियों और सगुण रस-साधकों में समान रूप से मिलते हैं—पर सगुणोन्मुख गीतों में सत् चित् की रूप प्रतिष्ठा के द्वारा आनन्द की अभिव्यक्ति सम्भव हो सकती है—इसी से कवि को बहुत अन्तर्मुख नहीं होना पड़ता। उसे अनेक रंगों द्वारा एक सीमित चित्रफलक को रंगना पड़ता है पर निर्गुणगायक को एक ही रंग से शून्य और असीम चित्रपट को रंगने में अत्यधिक अन्तर्मुख होना पड़ता है। यही कारण है कि सगुणभक्तों की अभिव्यक्ति उतनी दुरूह नहीं होती, जितनी निर्गुण गायकों की। जो जितना ही अन्तर्मुख होकर जितने ही अरूप को रूपायित करना चाहेगा—उसकी भाषा उतनी ही दुरूह और 'कुहासा-सी भाषा है न साँझ की न भोर की' होती चली जायेगी। 'अरूप' की अभिव्यक्ति करनेवाले मध्यकालीन सन्तों की अटपटी बानी में प्रतीक एवं विरोधाभासों का प्राचुर्य है, पर छायावादी रहस्यवादियों में प्रतीक, अन्योक्ति तथा लक्षणा एवं व्यञ्जना के चक्कर-

दार दुरूह प्रयोग हैं जिन पर लाक्षणिक चपलता से संवलित अंग्रेज़ी का भी प्रभाव है। साथ ही हम इन छायावादियों में यह प्रयास पाते हैं कि वे 'रहस्य' को इतनी दूर तक खींच ले जाते हैं कि अलौकिक के साथ लौकिक भी उसमें समाविष्ट हो जाता है। 'प्रसाद' और महादेवी की रहस्यानुभूति 'अरूप' की अनुभूति है जो अपनी श्लेषात्मकता में 'लोकोत्तर' है—इसी को रूपायित करने में 'चित्रभाषा' का प्रयोग उन लोगों को करना पड़ता है—जिसमें उपचारमय वक्रता, लाक्षणिकता, ध्वन्यात्मकता, मानवीकरण, सम्मूर्त्तन आदि का सहारा लिया जाता है।

रहस्यदर्शियों की भाषा 'रहस्य' की अभिव्यक्ति के लिए प्रायः 'साम्य' और 'वैषम्य' गर्भित भंगिमा का सहारा अपेक्षाकृत अधिक लेती है। साम्य-गर्भित प्रयोगों की चरम-सीमा 'प्रतीक' पद्धति है जिसका उल्लेख ऊपर किया गया है। 'प्रतीक' पद्धति के अतिरिक्त अन्योक्ति, पदार्थरूपक, वाक्यार्थरूपक, रूपकातिशयोक्ति एवं उपमा का प्रयोग भी इनकी भाषा में प्रचुरता के साथ उपलब्ध होता है।

अन्योक्ति या सादृश्यमूलक अप्रस्तुत प्रशंसा में सिद्धान्ततः यह माना जाता है कि अप्रस्तुत व्यवहार से प्रस्तुत व्यवहार की व्यंजना होती है। इस प्रणाली का उपयोग एक तो दुर्बोध्य प्रस्तुत को सुबोध्य बनाने के लिए किया जाता है दूसरे प्रभाव के तीव्र बनाने के लिए भी किया जाता है। उपनिषदों की वह पक्षीवाली अन्योक्ति प्रसिद्ध ही है—जहाँ कहा गया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरेकः पिप्पलं स्वादु अत्ति अन्योऽनश्नन्नभिचाकशीति॥

एक पीपल के वृक्ष पर दो पक्षी हैं—एक उसके फलों का भोग करता है और दूसरा बिना भोग के ही दीप्तिमान् है। यहाँ संसार रूपी वृक्ष से सम्बद्ध जीवात्मा और परमात्मा के व्यापारों की व्यंजना दो ऐसे पक्षियों के व्यापारों से की गयी है जिसमें एक भोक्ता है और दूसरा अभोक्ता। अवकाश कम होने के कारण सिद्धों और नाथों के साहित्य में न जाकर मध्यकालीन हिन्दी के रहस्यदर्शियों में जब हम इस पद्धति के प्रयोग की बात देखते हैं तो स्पष्ट पाते हैं कि निर्गुनिए सन्तों में बहुत ही काव्योचित रमणीय अन्योक्तियाँ उपलब्ध होती हैं। उनके साहित्य का जो उपदेशात्मक या नीतिपरक खण्ड है—उसमें से खण्डनात्मक फटकारोंवाले अंश को छोड़ दें—पर जहाँ जीवन या प्रवृत्ति के रमणीय व्यापारों के सहारे किसी मार्मिक तथ्य की व्यंजना करते हैं—वहाँ का उद्गार बड़ा ही रमणीय बन पड़ा है। उदाहरणार्थ—

च्यूँटी चावल ले चली बिच में मिल गई दार।
कह कबीर दोउ ना मिले एक ले दूजी डार॥

इसमें प्रस्तुत पक्ष यह है कि आध्यात्मिक-संकल्प को लेकर चलनेवाला एकतान ऊर्ध्वमुखी परमार्थ कामी यात्री चाहे कि बीच में भौतिक-संकल्पों को भी समेट

ले—तो यह असम्भव है। यहाँ तो एक को छोड़ने पर ही दूसरे का पूरा आनन्द लिया जा सकता है। इसी प्रकार और भी लें—

फागुन आवत देखकर बन रूना मन माँहि।
ऊँची डाली पात है दिन दिन पीले थाँहि।।

भरे-पूरे जंगल ने देखा कि फागुन आ गया है, अब तो ऊँची शाखाओं के हरे-भरे पत्ते भी पीले ही पड़ते जाएँगे। इस अप्रस्तुत व्यंजना से प्रस्तुत यह व्यंग्य हो रहा है कि काल का प्रभाव हर सांसारिक-स्पंद पर पड़ता है—चाहे वह कितना भी उत्कर्ष लाभ की दशा में क्यों न हो। इसी प्रकार से मिलते-जुलते सत्य की व्यंजना करनेवाला दूसरा दोहा भी है—

मालिन आवत देखकर कलियाँ करीं पुकार।
फूले फूले चुनि लिए काल्हि हमारी वार।।

संसार के एक दुःख से दग्ध व्यक्ति की दूसरे दुःख से उत्पन्न होनेवाली दाह जन्य भीति का कितनी जीवन्त और प्रभावशाली व्यंजना निम्नलिखित दोहे में दिखाई पड़ती है—

दौ की दाधी लाकड़ी ठाढ़ी करै पुकार।
मति वस परौं लुहार के जालै दूजी वार।।

इस प्रकार की न जाने कितनी अन्योक्तियाँ सन्तों के साहित्य में अपने काव्यात्मक रूप में पड़ी हुई हैं।

सूफियों ने तो अपने समस्त प्रबन्ध काव्य की कथा को ही अन्योक्ति के रूप में प्रस्तुत कर दिया है, यद्यपि कतिपय चिन्तक उसे रूपकातिशयोक्ति और कुछ एक समासोक्ति भी कहते हैं। पद्मावत के बीच-बीच के संकेतों को खण्डशः हम अन्योक्ति, समासोक्ति—कुछ भी लक्षणानुसार कह लें—पर "तन चित उर मन राजा कीन्हा···" आदि अन्तिम वक्तव्य तो बहुत स्पष्ट कर देता है कि कवि इस विशालकाय वाच्यार्थ को आवरक ही मानता है—अप्रस्तुत ही मानता है—प्रस्तुत अर्थ तो आध्यात्मिक ही हैं। यहाँ अरूप और सूक्ष्म आध्यात्मिक संकेत के लिए लोक-कथा का अप्रस्तुत रूप में सहारा लिया गया है। कुछ दादुर कमल के नीचे रहकर भी उसके सर्वोत्तम पराग, मकरन्द और सुगन्ध से बच रहें– और अपकृष्ट अंश को ही सर्वप्रधान घोषित करें—तो इसमें कमल का दोष क्या है ?

सगुणधारा के रहस्यवादियों में भी इस पद्धति का प्रयोग यत्र-तत्र अपने सिद्धान्त को समझाने के लिए किया गया है। गोस्वामी हित हरिवंश ने अपने सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए सारस और चकई के सम्वाद रूप में अत्यन्त उत्तम अन्योक्ति प्रस्तुत की है। वहाँ मिलन-सुख को ही सर्वस्व माननेवाली सारस पत्नी लक्ष्मणा के प्रेम को चकई एकांगी बताती है और वियोग पक्ष को महत्त्व देनेवाली चकवी के प्रेम को लक्ष्मणा एकांगी बताती है। अन्ततः यह कहा गया है कि सच्चा आनन्द न तो एकान्त मिलन में है और न केवल विरह

में। सच्चा सुख तो विरहगर्भ मिलन में है—जहाँ विरह की भावना भी है और तत्पूर्वक मिलन का सुख भी है।

छायावाद का तो शैली की दृष्टि से स्वरूप स्पष्ट करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में स्पष्ट ही कहा है—"इस तरह छायावाद का लक्षण हुआ—"प्रस्तुत के स्थान पर उसकी व्यंजना करनेवाले अप्रस्तुत का कथन।" मैं यह नहीं कहना चाहता कि छायावाद की यही परिभाषा मान्य है—पर इससे इतना निष्कर्ष अवश्य निकालना चाहता हूँ कि शुक्लजी को छायावादियों की रचनाओं में अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत की व्यंजना वाली अन्योक्ति शैली पर्याप्त मात्रा में मिली है।

इस प्रकार अन्योक्ति एवं प्रतीक पद्धति के अतिरिक्त रूपक एवं रूपकातिशयोक्ति का भी प्रचुर प्रयोग रहस्यवादियों में उपलब्ध होता है। रूपक में उपमान और उपयोग दोनों का अभेदपूर्वक शब्दतः प्रयोग रहता है अर्थात् इसमें जिस उपमान और उपमेय का शाब्दिक प्रयोग रहता है—उनका तादात्म्य कहा गया रहता है और ऐसा करने का प्रयोजन होता है—दोनों में रहनेवाले साधर्म्यप्रयुक्त सादृश्य का अतिरेक। उदाहरणार्थ, सरहया की एक उक्ति लें—जहाँ पवन पर घोड़ा का आरोप किया गया है—

एहु मण मेल्लह पवण तुरंग सुचंचल।
सहज सहाने णे बसइ होइ णिञ्चल॥

गोरखबानी में भी इसी भाव का एक पद है—

सहज पलांग पवन कर घोड़ा लै लगाम चित्त चवका।
चेतनि असवार ग्यान गुरु करि और तजो सब दवका।

कबीर आदि सन्तों में भी इस भाव के रूपक उपलब्ध हैं—

देह मुहार लगाम पहिरावउ, सगलन जीत गगन दउरावउ।
अपनै विचारि असवारि कीजै, सहज के पाँवड़े पगु धरि लीजै॥
चलि रे वैकुण्ठ तुझहि लै तारउ, हित हित प्रेम कै चाबुक मारउ।
कहत कबीर भले असवारा, वेद कतेव ते रहै निरारा॥

आन्तरिक साधन प्रणाली का यह रूपकात्मक विधान साधकों के साहित्य में प्रचुर रूप में उपलब्ध होता है। सूफियों में भी कवि उसमान कृत चित्रावली से एक उद्धरण लें—

ज्ञान डोरि कस हिया मथानी। साँस लेत डोरी लपटानी।
उल्टी दृष्टि रहै टुक लाई। सजग रहै जेहि तन्तु न जाई।
तौ लहुँ मथै बैठि दे जीऊ। निसरै छाँछ मही ते घीऊ।
निजुसो मथनी एक दिन, मथत-मथत गा फूटि।
तत्त्वमसी पुनि तत्त्व सों, जाए नरक सों छूटि॥

सगुण धारा के रूप-वर्णन में प्रयुक्त रूपक को उद्धृत करना आवश्यक है। इसी प्रकार छायावादी रचनाओं में भी इसके प्रचुर प्रयोग सुलभ हैं।

इस सन्दर्भ में विशेष रूप से रूपकातिशयोक्ति के बारे में कहना है । सिद्धों, नाथों एवं सन्तों के साहित्य में प्राय: ऐसे उपमानवाचक शब्दों के अविरल प्रयोग मिलते हैं जहाँ उपमेय उसी में निगीर्ण रहा करता है । परन्तु कहीं-कहीं रूपकातिशयोक्ति का आभास भी है—जिस पर ध्यान न देने से भ्रान्ति की सम्भावना है । रहस्य साधकों की परम्परा में कुछ ऐसे शब्द हैं जिन्हें एक विशेष अर्थ में परिभाषित कर दिया गया है । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने 'कबीर' में ऐसे शब्दों की सूची दी है और सिद्ध, नाथ एवं सन्त साहित्य में उसका एक-सा प्रयोग दिखाया है । उदाहरण के लिए 'चित्त' के लिए 'भ्रमर' शब्द को सांकेतिक रूप में हठयोग प्रदीपिका में निर्धारित ही कर दिया गया है । पर कुछ शब्द ऐसे हैं जिनकी धर्म-साम्य के आधार पर एक रूढ़ि नहीं स्थिर हो पायी है—वहीं रूपकातिशयोक्ति का वास्तविक रूप स्वीकार करना चाहिए । उदाहरण के लिए 'हरिण' शब्द को ही लें—प्रसंगवश कहीं उसमें 'चित्त' निगीर्ण है तो कहीं कमजोर साधक निगीर्ण है । सन्तों की स्वच्छन्द वृत्ति ने परम्परा प्रयुक्त उपमानों का तो ग्रहण किया ही है—स्वतन्त्र न जाने कितने उपमानों का आविष्कार किया है—जिससे उपमेय निगीर्ण हैं । सूफियों एवं सगुण सन्तों ने नखशिख वर्णन के प्रसंगों में रूपकातिशयोक्ति का प्रचुर प्रयोग किया है । प्रतीक भी उपमान शब्द ही हैं—जिनसे प्रस्तुत अर्थ को अनभिधेय रूप में झलकाया जाता है और रूपकातिशयोक्ति में भी उपमानवाचक शब्द का ही प्रयोग होता है—परन्तु फिर भी दोनों में महान अन्तर है । प्रतीक अनन्तानन्त सूक्ष्म अर्थों की व्यंजना करता है जब कि रूपकातिशयोक्ति का उपमान गौणी साध्यवसाना लक्षण शक्ति के बल से उपमेयरूप अर्थ को लक्षित करता है ।

रहस्यमय तत्त्व का स्वरूप, रहस्यमयी आन्तरालिक अनुभूतियाँ, आन्तरिक साधना प्रक्रिया आदि की अभिव्यक्ति के लिए ये रहस्यदर्शी प्राय: वैषम्यमूलक विरोधाभासी शैली गृहीत करते हैं । साम्य और वैषम्य पर आधारित रहस्यदर्शियों की अभिव्यक्ति शैली को इस साहित्य में गुह्यवाणी, रहस्यवाणी, संध्या भाषा या संधा भाषा तथा उलटबाँसी या पूरब की भाषा—जैसे विभिन्न नामों से पुकारा गया है । म. म. हरप्रसाद शास्त्री ने बौद्ध सिद्धों के पदों की भाषा को सन्ध्या भाषा कहा है—जिसका तात्पर्य उनकी दृष्टि में 'आलो आन्धारी भाषा' (धूप छाँहीं शैली) माना गया है । डॉ. विनयतोष भट्टाचार्य ने भी सन्ध्या भाषा ही इसे समझा है और सांध्यवेला की विशेषताओं से सम्पन्न बताया है । पण्डित विधुशेखर भट्टाचार्य ने कहा है कि वस्तुत: यह शब्द 'सन्ध्या' नहीं 'संधा' है—जो संस्कृत के 'संधाय' जैसे ल्यवंत रूप का अपभ्रष्ट है । इस प्रकार 'संधा' का अर्थ है—अभिप्रायगर्भित । कुछ पण्डितों ने इसे बिहार और बंगाल के संधि-देश की भी भाषा कहना चाहा है—पर इस भाषा का प्रयोग कहीं का भी रहस्यदर्शी कर सकता है । कन्नड़ के महाप्रभु अल्लम जब इस शैली का प्रयोग करते हैं—तब क्या वे बिहार-बंगाल की सन्धि-देश के हैं ? आगमिक

और नैगमिक भाषाओं में भी गोपन की सांकेतिक शैली प्रयुक्त हुई है—पर इन सिद्धों ने उसे एक शैली के ही रूप में विकसित किया। सन्तों की संसार की प्रकृति से उल्टी आध्यात्मिक प्रकृति की अभिव्यक्ति-मुखरभाषा को उलटबाँसी संज्ञा दी गई है—जहाँ विरोधाभाषी शैली स्पष्ट लक्षित है।

उपनिषदों में परतत्त्व के अनिर्वचनीय स्वरूप को स्पष्ट करने की झोंक में परस्पर विरोधी विशेषणों और वाक्यों का धड़ल्ले से प्रयोग मिलता है। ईशावास्योपनिषत् में कहा गया है—"तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तच्चअन्तिके"—अर्थात् वह चलता भी है और नहीं चलता, वह निकट भी है और दूर भी। अभिप्राय यह है कि वह तत्त्व जड़ की भाँति जब नहीं है तब जड़ विरोधी सक्रियता उसमें माननी ही पड़ेगी। साथ ही जब उससे रहित कोई प्रदेश नहीं है—तो वह गमन भी कहाँ करेगा? मायावृत होने से वह दूर भी है और सर्वत्र व्याप्त होने से सन्निहित भी। बौद्ध सिद्धों ने उस पर तत्त्व को तो अस्पष्ट शैली में निरूपित किया ही है—जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है—अन्य भी और ऐसी अन्य अनुभूतियाँ और साधन प्रक्रियाएँ हैं—जिनकी अभिव्यक्ति के लिए यह शैली अपनाई गई है।

बौद्ध सिद्धों में ढेण्ढणपाद की एक विरोधी शैली की उक्ति लें—

वलद विआअल गविआ बाँझे।
पिटा दुहिअड ते तिनि साँझे।
जो जो बुधी सो धनि बुधी।
जो सो चोर सोइ साधी।
निति निति सिआल सिहे सम जुझअ।
ठेंठणपाएर गीत विरले बूझअ।।

इन पंक्तियों में बैल का प्रसव और गाय का बाँझपन, उसका तीनों साँझ दुहा जाना, चोर का साधु होना, श्रृंगाल का नित्य प्रति सिह से जूझना—परस्पर-विरोध गर्भित उक्तियाँ हैं। इस उक्ति को समझने की चुनौती भी दी गई है। चुनौती दिए जाने के कारण इन पदों का सर्वसम्मत अर्थ करना काफ़ी कठिन है फिर भी मैं समझता हूँ कि बैल का प्रसव और गाय का बाँझपन सृष्टि की सांवृतिक प्रक्रिया के लिए ही कहा जाना चाहिए—क्योंकि यह संवृति ही है जो सांवृतिक या अपारमार्थिक क्रियाओं का आभास देती है। चोर का साधु होना—से कदाचित् उनका आशय यह हो कि जो संसार की दृष्टि से अपने-आपको छिपाकर गुह्यरूप में आध्यात्मिक सम्पत्ति की उपलब्धि के लिए बढ़ता है—वही साधु है। श्रृंगाल का सिंह के साथ जूझना वध्य और घातक का युद्ध है। शरीर को न जाने कितनी बार खा चुका है—चित्त (विज्ञानधारा)—पर शरीर ने 'चित्त' को फाँस रखा है और उससे जूझता रहता है। इस तरह का कुछ अर्थ संकेतित हो सकता है।

इस तरह की चुनौती देकर पण्डितों के प्रति ललकार की प्रकृति नाथों और

सन्तों में भी उपलब्ध होती है। कबीरदास ने उक्त पद से ही मिलती-जुलती एक उलटबाँसी प्रस्तुत की है—जो इस प्रकार है :

बैल वियाइ गाय भई बाँझ।
बछड़ा दूहै तीन्यूँ साँझ ।।
मकड़ी घरि माछी छछिहारी।
मास पसारि चील्ह रखिवारी ।।
मूसा खेवट नाव बिलइया।
पीडक सोवै साँप पहरइया ।।
नित उठ स्याल साँप सूँ जूझै।
कहै कबीर कोई विरला बूझै ।।

निस्सन्देह यह शैली परम्परागत शैली है जिसमें बहुत कुछ परम्परागत संकेत भी हैं। यह अवश्य है कि दोनों की चिन्ता-धारा और साधन-धारा भिन्न हैं—इसलिए विशिष्ट अप्रस्तुतों से विशेष-प्रस्तुत और प्रस्तुतोपयोगी अर्थों की व्यंजना हो सकती है किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि संवृति और माया का स्थान दोनों की चिन्ता-धारा में हैं तथा संसार में फाँसनेवाले और फँसनेवाले का साहचर्य और लगाव शतशः दृष्ट है। फलतः ऐसे ही सांवृतिक और आविद्यिक व्यवहारों और लगावों को देखकर ही उन पर विरोधी अप्रस्तुतों का प्रयोग किया गया है।

सन्त-साहित्य में उपलब्ध होनेवाली उलटबासियाँ दो प्रकार की दृष्टिगोचर होती हैं—एक तो ऐसी हैं जिनको माध्यम के रूप में लेना विवशतावश है—क्योंकि उनसे जिस अरूप और सूक्ष्म का संकेत दिया जा रहा है—यह और किसी प्रकार सम्भव ही नहीं था। ऐसी उलटबाँसियों को सांकेतिक कहा जा सकता है—पर कुछ उलटबासियाँ ऐसी हैं—जो जानबूझकर प्रस्तुत की गई हैं। जानबूझकर ऐसा करने का कारण यह है कि उससे आवृत अर्थ को अयोग्य लोग ग्रहण न कर सकें। ऐसी उलटबाँसियों को 'गुह्य' कहा जा सकता है। पहले प्रकार की उलटबाँसी काव्य के अधिक नज़दीक है—दूसरी कम। कारण यह है कि कला आवरण है और आलोचना अनावरण। पर इसके साथ यह भी ध्यान में रखने की बात है कि आवरण इतना दुर्बोध न हो कि सहृदय उसका अनावरण ही न कर सके अथवा काफ़ी माथापच्ची से कर सके—क्योंकि इस स्थिति में काव्यात्मक चमत्कार मर जाता है। काव्यात्मक सौष्ठव तो शीघ्र सहृदय-संवेद्य होने में है और जब कभी सहृदय को उलटबाँसियों का आवरण निराकरणपूर्वक आवृत की प्रतीति हुई है—तब उसे काव्यात्मक चमत्कार का भी आस्वाद हुआ है और होता है।

इस प्रकार अपने वक्तव्य में भी गुह्यता रखने की अधिकांश प्रवृत्ति निर्गुनिए सन्तों और सिद्धों में जिस स्तर की उपलब्धि होती है—वह बात सगुण रस साधकों और कवि रहस्यवादियों में नहीं। इसीलिए सन्तों और सिद्धों की बानियाँ जहाँ-तहाँ ही काव्यात्मक स्तर कर स्पर्श कर सकी हैं। यों साम्यमूलक उक्तियों की भाँति छायावादी या रहस्यवादी आधुनिक कवियों की कृतियों में भी विरोधाभासी शैली का प्रयोग "शीतल ज्वाला जलती है" तथा "कूल भी हूँ कूलहीन प्रवाहिनी भी"—जैसी पंक्तियों में अनेकत्र उपलब्ध है।

●●●

डॉ. राममूर्ति त्रिपाठी

जन्म : 4 जनवरी 1929, नीवी कलाँ, वाराणसी

शिक्षा : काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, से एम ए., पी एच. डी.; साहित्याचार्य, साहित्यरत्न

अध्यापन : संस्कृत महाविद्यालय, आर्ट्स कालेज 1954 से 1960 तक; सागर विश्वविद्यालय 1960 से अब तक

प्रकाशित कृतियाँ : व्यंजना और नवीन कविता; भारतीय साहित्य दर्शन; औचित्य विमर्श; रस विमर्श; साहित्य शास्त्र के प्रमुख पक्ष; लक्षणा और उसका हिन्दी काव्य में प्रसार; रहस्यवाद; काव्यालंकार सार संग्रह और लघु वृत्ति की (भूमिका सहित) विस्तृत व्याख्या; नृसिंह चम्पू (व्याख्या); हिन्दी साहित्य का इतिहास; कामयनी : काव्य, कला और दर्शन; आधुनिक कला और दर्शन; भारतीय काव्य शास्त्र नए संदर्भ; भारतीय काव्य शास्त्र : नई व्याख्या; तंत्र और संत; आगम और तुलसी; रस सिद्धांत : नये संदर्भ—(प्रस्तोता के रूप में)।



राजकमल प्रकाशन

नयी दिल्ली पटना



राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना